मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास कार्यक्रम

समाजकार्य स्नातक पाठ्यक्रम (द्वितीय वर्ष)

(सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता सहित)

Bachelor of Social Work (Second Year)

(With Specialization in Community Leadership)

मॉड्यूल–8

समाज कार्य का इतिहास एवं पद्धतियाँ

(History and Methods of Social Work)

प्रायोजक

महिला एवं बाल विकास विभाग, मध्यप्रदेश

आदिम जाति कल्याण विभाग, मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जन अभियान परिषद

संचालन

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय

चित्रकूट, सतना (म.प्र.) - 485334

स्व–निर्देशित अध्ययन सामग्री
Self -Instructional Learning Material

मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास कार्यक्रम

मॉड्यूल–8
समाज कार्य का इतिहास एवं पद्धतियाँ
History and Methods of Social Work

समाजकार्य स्नातक पाठ्यक्रम (द्वितीय वर्ष)
(सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता)

Bachelor of Social Work (Second Year)
(Specialization in Community Leadership)

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट
जिला-सतना (मध्यप्रदेश) - 485334

मॉड्यूल–8 : समाजकार्य का इतिहास एवं पद्धतियाँ

अवधारणा एवं रूपरेखा : संस्करण 2017

बी.आर. नायडू , आई.ए.एस. प्रमुख सचिव
जे.एन. कंसोटिया, आई.ए.एस. प्रमुख सचिव
अशोक शाह, आई.ए.एस. प्रमुख सचिव

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम, कुलपति, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट

परामर्श :

डॉ. टी. करुणाकरन, पूर्व कुलपति
जयश्री कियावत, आयुक्त, महिला सशक्तिकरण
श्री उमेश शर्मा, कार्यपालन निदेशक, मध्यप्रदेश जन अभियान परिषद

लेखक मण्डल :

डॉ. विनोद शंकर सिंह
डॉ. नन्दलाल मिश्रा
डॉ. अजय आर चौरे

सम्पादक मण्डल :

डॉ. अमरजीत सिंह
डॉ. वीरेन्द्र कुमार व्यास
डॉ. सूर्यप्रकाश शुक्ल

रेखांकन :

कु. प्रतिभा देवी, श्री सोवन बनर्जी

मुद्रक एवं प्रकाशक :

कुलसचिव (ग्रामोदय प्रकाशन की ओर से),
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट
जिला–सतना (मध्यप्रदेश) – 485334, दूरभाष– 07670–265411

सम्पर्क :

डॉ. अमरजीत सिंह, निदेशक एवं लिंक अधिकारी
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (मध्यप्रदेश)
ई–मेल– cmcldpcourse@gmail.com, मोबाइल– 9424356841

श्री आर. के. मिश्रा, राज्य सलाहकार (यूनिसेफ) सी.एम.सी.एल.डी.पी.
ई–मेल– rkmishraguna@gmail.com, मोबाइल– 9425171972

आभारः– इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री अनेक स्रोतों, व्यक्तियों के अनुभव और संस्थाओं के प्रकाशनों एवं वेब साइट्स पर उपलब्ध सामग्री के सहयोग से तैयार की गई है। पाठ्यक्रम के परामर्शदाताओं का अनुभव और सुझाव भी इसमें शामिल है। सभी के प्रति आभार।

मॉड्यूल–8 : समाजकार्य का इतिहास एवं पद्धतियाँ

8.1 भारत में समाज कार्य का इतिहास **5–15**

8.1.1 प्राचीनकाल

8.1.2 मध्यकाल

8.1.3 वर्तमानकाल

8.2 वैयक्तिक समाज कार्य **16–38**

8.2.1 अवधारणा

8.2.2 सिद्धान्त

8.2.3 प्रविधियॉं दक्षता

8.3 सामूहिक समाज कार्य **39–54**

8.3.1 अवधारणा

8.3.2 सिद्धान्त

8.3.3 प्रविधियॉं दक्षता

8.4 सामुदायिक संगठन **55–74**

8.4.1 अवधारणा

8.4.2 सिद्धान्त

8.4.3 प्रविधियॉं दक्षता

8.5 मूल प्रवृत्तियॉं **75–112**

8.53 प्राथमिक मूल प्रवृत्तियॉं

8.5.3 अभिप्रेरणा

8.5.3 संवेग

8.5.3 समाज कार्य अभ्यास में व्यावहारिक उपयोग

8.5.3 भीड़ का समूह मनोविज्ञान

प्रस्तावना

किसी भी ग्राम अथवा नगर के विकास के लिए सबसे बड़ा संसाधन वहां के लोग हैं। विकास की समस्याओं का हल समाज द्वारा ही संभव हैं। ग्राम अथवा नगर का विकास तब तक संभव नही हो पायेगा जब तक कि उसमें स्थानीय जन भागीदारी सुनिश्चित न हो। स्थानीय स्तर की समस्याओं व उनके समाधान की बेहतर जानकारी उन्हीं के पास है। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सीमित संसाधनों से किस प्रकार अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है, इसका भी आंकलन वहां के लोग ही कर सकते हैं।

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो स्वेच्छा से समाज के विकास एवं उत्थान के लिये कार्यरत होते हैं। यदि ऐसे लोगों को जागरूक, क्षमता सम्पन्न एवं सशक्त कर दिया जाए तो वे अधिक प्रभावी एवं व्यवस्थित तरीके से समाज की सहभागिता से समाज के विकास के लिये कार्य कर सकेंगे। ऐसे ही स्वप्रेरणा से प्रयासरत लोगों को शिक्षित कर सशक्त सामाजिक नेतृत्वकर्ता के रूप में विकसित करने हेतु शासन द्वारा मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास पाठ्यक्रम का संचालन किया जा रहा है। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत एक वर्ष सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में सर्टिफिकेट, दो वर्ष सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में डिप्लोमा तथा तीन साल सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में डिग्री दी जायेगी। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य प्रदेश के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में ऐसे क्षमतावान युवक एवं युवतियों को तैयार करना है, जिन्हें क्षेत्र के विकास की अच्छी समझ हो और जो क्षेत्र की समस्याओं की पहचान भी कर सकें। समस्याओं के निदान के लिए निर्णायक पहल कर सकें। आत्मविश्वास और ऊर्जा से ओत–प्रोत नौजवानों की ऐसी पीढ़ी तैयार हो जो समाज की समस्याओं के समाधान के लिए केवल सरकारी प्रयासों पर निर्भर न हों, बल्कि समुदाय के परिश्रम और पुरुषार्थ से ग्राम की या अपने आस–पास की परिस्थितियों को बदलने के लिए सकारात्मक पहल कर सकें।

यथार्थ में अपने क्षेत्र के विकास में आपके योगदान से ही स्वर्णिम मध्यप्रदेश का स्वप्न साकार हो सकेगा। इसी की पहली कड़ी के रूप में यह पाठ्यक्रम आपके सम्मुख प्रस्तुत है, जिसमें परिवर्तन और विकास के दूत बनाने के लिए आपको सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान किया जा रहा है। इस पाठ्यक्रम के माध्यम से प्रयास किया गया है कि आप ग्राम के विकास के प्रयासों को वैज्ञानिक स्वरूप दे सकें। आप जो भी सामुदायिक कार्य करें वह स्थायी हो, सबके सहयोग से हो और सबके विकास में सहयोगी हो। इस दृष्टि से समुदाय विकास के कुछ महत्वपूर्ण आयामों को इस पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में आपके ज्ञानवर्धन एवं प्रशिक्षण हेतु समायोजित किया गया था।

पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष की गतिविधियों को सफलतापूर्वक पूर्ण कर आपने अपने परिश्रम और पुरुषार्थ से एक पड़ाव पार कर लिया है। इसी दिशा में सतत् प्रयत्नशील रहकर आपको लोगों की सहभागिता से अपने गाँव/क्षेत्र की तस्वीर और तकदीर बदलना है। सैद्धांतिक विषयों की कड़ी में यह द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम का प्रथम प्रश्नपत्र (मॉड्यूल–8) है। शीर्षक है– **समाज कार्य का इतिहास एवं पद्धतियाँ।** पहले वर्ष के समाजकार्य परिचय माड्यूल में आप जान चुके हैं कि समाज कार्य प्रशिक्षित सामुदायिक नेतृत्व के जरिये मनो–सामाजिक एवं अन्य विविध समस्यायों से ग्रस्त व्यक्तियों की समस्या के निराकरण के लिए सहायता प्रदान करने का हर संभव प्रयत्न है। इस मॉड्यूल में हम आपको भारत में समाज कार्य के उद्भव एवं विकास को बताने के साथ ही समाज कार्य की तीनों प्राथमिक पद्धतियों – वैयक्तिक समाज कार्य, सामूहिक समाज कार्य एवं सामुदायिक संगठन के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक विधियों का गहराई से परिचय देंगे। इस मॉड्यूल में सामुदायिक नेतृत्व के लिए उपयोगी प्रमुख मनो–सामाजिक अवधारणायें जैसे – प्राथमिक मूल प्रवृत्तियॉ, अभिप्रेरणा, संवेग, समाज कार्य अभ्यास में व्यावहारिक उपयोग एवं भीड़ का समूह मनोविज्ञान इत्यादि विषय विश्लेषित कर प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

विश्वास है कि यह जानकारी और प्रशिक्षण आपके लिए उपयोगी और प्रभावी सिद्ध होगा। चलिए! शुभकामनाओं के साथ पठन–पाठन की इस रचनात्मक प्रक्रिया के साझीदार बनते हैं।

■■■

8.1 : भारत में समाज कार्य का इतिहास (History of Social Work in India)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

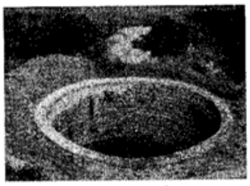
- भारत में समाज कार्य की उत्पत्ति एवं क्रमिक विकास को।
- प्राचीनकाल में समाज कार्य की प्रक्रिया और स्वरूप को।
- मध्यकाल में समाज कार्य के क्षेत्र में आये बदलाव को।
- समाज कार्य के आधुनिक स्वरूप और प्रवृत्तियों को।

भारत में समाजकार्य की उत्पत्ति एवं विकास (Origen and Development of Social Work in India)

भारत का समाज सदा से ही एक परम्परात्मक समाज रहा है परन्तु परम्पराएं समय के परिवर्तन के साथ परिवर्तित भी होती रही है। यदि हम भारतीय इतिहास के अति प्राचीन काल को देखें तो ज्ञात होगा कि उस समय का समाज एक प्रकार का साम्यवादी समाज था। यह उस समय की बात है जब निजी सम्पत्ति का जन्म नही हुआ था और सभी वस्तुएं समाज के सभी सदस्यों की समझी जाती थीं। उस समय प्रतिदिन के सामूहिक परिश्रम से जो वस्तुएं प्राप्त होती थी उन्हें जब वितरित किया जाता था और जब उनका उपभोग होता था तो उसे हवन कहते थे। इसके अतिरिक्त जब युद्ध में प्राप्त वस्तुओं अथवा अन्य स्थायी वस्तुओं का वितरण होता था तो उसे दान कहते थे। ऋग्वेद में दान शब्द का अर्थ है ''विभाजन''। इसका अर्थ भिक्षा या दान न था।

जब निजी सम्पत्ति का जन्म हुआ तो वर्ग एवं राज्य का भी जन्म हुआ और यज्ञ केवल एक क्रिया–पद्धति हो कर रह गयी और युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति समुदाय की सम्पत्ति न समझी जाकर राजा एवं राज्य करने वाले वर्ग की सम्पत्ति समझी जाने लगी। दान का अब वह अर्थ न रहा जो पहले था। दान एक ऐच्छिक गुण समझा जाने लगा और अब यह राजाओं या धनवानों पर निर्भर करता था कि वह दान किसे दें और किसे न दें। क्योकि दान देना अब अनिवार्य न था। अब अच्छे और बुरे दान में अन्तर समझा जाने लगा और दान के नैतिक मानदण्ड बना दिये गये। इस प्रकार दान की संस्था जो प्राचीन युग में सामाजिक बीमे का एक रुप थी अब राज्य करने वाले वर्ग का एक अधिकार बन गयी। इसमें सामाजिक सेवा अर्थात् कुंए खुदवाना, तालाब बनवाना आदि कार्य सम्मिलित थे। इस प्रकार धार्मिक

अभिप्रेरणा के आधार पर सामाजिक सेवा का आरम्भ हुआ और इष्टापूर्त के सम्बन्ध में नहर बनवाने, पेड़ लगवाने, मंन्दिर बनवाने, आश्रम बनवाने, विद्यालय, चिकित्सालय आदि स्थापित करने और अन्य सार्वजनिक कल्याण करने का कार्य होने लगा परन्तु इन सब कार्यो का प्रमुख उद्देश्य आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना एवं सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करना था।

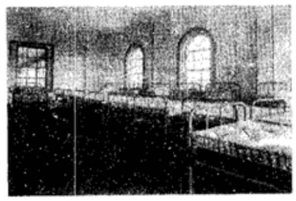

कुआँ


नहर


छायादार वृक्ष


मन्दिर


आश्रम


अस्पताल

भारत में जब मुसलमान आये तो उन्होने भी अपने धर्म के आदेशानुसार दान पुण्य पर अधिक धन व्यय किया। इस्लाम में जकात एक महत्वपूर्ण तत्व है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को प्रति वर्ष अपनी सम्पत्ति, विशेष प्रकार से धन या स्वर्ण का ढ़ाई प्रतिशत भाग जकात के रुप में व्यय करना आवश्यक है। जकात की रकम निर्धन एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों पर व्यय की जाती है। इसके अतिरिक्त इस्लाम में एक संस्था खैरात की भी है जिसकें अनुसार अभावग्रस्त व्यक्तियों की आर्थिक सहायता व्यक्तिगत रुप से की जाती है। इसके लिए कोई दर निश्चित नही है और यह इच्छानुसार दी जाती है। इस्लाम में धन के प्रति घृणा का प्रचार किया गया है और अधिक से अधिक धन को अभावग्रस्त व्यक्तियों में वितरित करने पर बल दिया गया है।

दिल्ली के सुल्तानों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार, जो दान पर अधिक बल देता है, निर्धनों एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों पर अधिक धन व्यय किया। जकात द्वारा प्राप्त धन के अतिरिक्त जो वैधानिक रुप से दान सम्बन्धी कार्यो के लिए निर्दिष्ट होता था, अन्य साधनों से प्राप्त बड़ी–बड़ी धन राशियाँ निर्धनों पर व्यय की जाती थी–इस सम्बन्ध में शेरशाह का एक विश्वसनीय सहयोगी खावास खाँ बहुत प्रसिद्ध है। हजारो नर–नारी उसके बनवाये हुए घरों और

खेमों में रहते थे और वह स्वयं उनके लिए भोजन परोसता था। हिन्दुओं को कच्चा भोजन मिलता था--महमूद गवाँ जो एक राज्य का मालिक था अपना सारा धन निर्धनों पर व्यय कर देता था ओर स्वयं कृषकों वाला साधारण भोजन लेता था और चटाई बिछाकर जमीन पर सोता था। खानकाहें भी निर्धन सहायता का केन्द्र थी क्योंकि वहॉ भोजन निःशुल्क मिलता था और अभावग्रस्तों एवं यात्रियों को ठहरने का स्थान मिलता था। राज्य की ओर से या निजी व्यक्तियों की ओर से जो धन उन्हें मिलता था उसका एक बडा भाग शिक्षा, समाज सेवा, एवं निर्धन सहायता पर व्यय होता था। यह दान पुण्य इतना विस्तृत था कि इसके कारण व्यावसायिक भिक्षुको का एक वर्ग उत्पन्न हो गया-- इब्ने बूतता ने एक विभाग के विषय में लिखा है जिसमें अभावग्रस्त पुरुषो एवं स्त्रियो की सूची रखी जाती थी और उन्हें अनाज दिया जाता था। विद्वानो को निरीक्षक नियुक्त किया जाता था ताकि तटस्थ रुप से कार्य हो सके। फीरोज शाह ने अपने कोतवाल को आदेश दे रखा था कि वह वृत्तिहीनों को उसके सामने प्रस्तुत करे-- वे उसके सामने प्रस्तुत किये जाते थे और वह उनके लिए रोजगार उपलब्ध कराता था। इस बात के प्रेरणास्रोत सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक का मानता था जिसके अनुसार अपराध अभाव का परिणाम था। अतः वह निर्धनो के लिए कोई न कोई कार्य या व्यवसाय अवश्य उपलब्ध कराता था। प्रायः वह उन्हें धन या भूमि अनुदान के रुप में देता था जिससे वह कृषि कर सके। उसने इस बात का प्रयास किया कि भिक्षावृत्ति उसके राज्य से समाप्त हो जाये और इसके लिए वह भिक्षुओं को किसी लाभदायक व्यवसाय ग्रहण करने के लिए तैयार करता था।



शेरशाह सूरी



खवास खान



मो. गवाँ खान



फिरोज शाह



इब्ने--बतूता

भारत में पारसी लोग भी रहते थें। पारसियों के धर्म में भी दान को बड़ा महत्व दिया गया है। पारसियों ने यहाँ धर्मशालायें, तालाब, कुंयें विद्यालय आदि बनवाये। उन्होंने बहुत से न्यास स्थापित किये जिनमें से एक प्रसिद्व न्यास बाम्बे फारसी पंचायत ट्रस्ट फण्ड है। इस न्यास के उद्देश्यों में पारसी विधवाओं की सहायता, पारसी बालिकाओं की विवाह सम्बन्धी सहायता, नेत्रहीन पारसियों की सहायता, निर्धन पारसियों की सहायता और धार्मिक शिक्षा सम्बन्धी सहायता सम्मिलित हैं।

जब अंग्रेज भारत में आये तो क्रिश्चियन मिशनों ने भी यहॉ अपना कार्य आरम्भ किया। क्रिश्चियन मिशनों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए विभिन्न प्रकार के समाज कल्याण सम्बन्धी कार्य भी किये।

1780 में बंगाल में सिरामपुर मिशन स्थापित हुआ। इस मिशन ने हिन्दू सामाजिक ढ़ांचे में सुधार लाने का प्रयास किया। उदाहरण स्वरुप इसने बाल विवाह, बहुविवाह, बालिका हत्या, सती एवं विधवा विवाह पर निषेध के विरूद्व आवाज उठाई। इसके अतिरिक्त इस मिशन ने जाति प्रथा के विरूद्व भी प्रचार किया। अपने इस विचारों को कियाशील रुप प्रदान करने हेतु इस मिशन ने अनेक समाज कल्याण संस्थायें स्थापित की जिनके द्वारा अभावग्रस्त एवं पीड़ित लोंगो की सहायता की जाती थी। उस समय अधिकतर कल्याणकारी संस्थायें क्रिश्चियन मिशनों द्वारा स्थापित की गयी थीं। कुछ समय पश्चात् ही लोक हितैषी व्यक्तियों, अन्य धार्मिक संस्थाओं एवं राज्य ने इस क्षेत्र में कार्य करना आरम्भ किया। 18वीं शताब्दी के अन्त में क्रिश्चियन मिशनों के प्रसार को भारत के विचारशील लोगों ने लिए एक चुनौती माना और इस चुनौती का सामना करने के लिए अनेक प्रयास हुये। इस प्रकार के एक व्यक्ति राजा राममोहन राय थे जिन्होंने भारत की प्रथाओं में सुधार लाने का प्रयास किया। उन्होंने विशेष रूप से जाति प्रथा और सती प्रथा का विरोध किया और अनेक शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की। उन्होंने ब्रहम् समाज की स्थापना की जिसका एक उद्देश्य हिन्दुओं को क्रिश्चियन धर्म स्वीकृत करने से सुरक्षित रखना था। ब्रहम् समाज ने अकाल के समय सहायता, बालिका शिक्षा, स्त्रियों के उत्थान, मद्य निषेध एवं दान के प्रोत्साहन से संबंधित कार्य किये। ज्योतिबाँ फुले ने जाति प्रथा में सुधार का प्रयास किया और अनेक संस्थायें जैसे अनाथालय एवं बालिका विद्यालय आदि स्थापित किये।



राजाराम मोहन राय



ज्योतिबा भूले



दयानन्द सरस्वती

18वीं और 19वीं शताब्दी में भारत में समाज सेवा पद्धति के मुख्य उद्‌देश्य दो थे :–

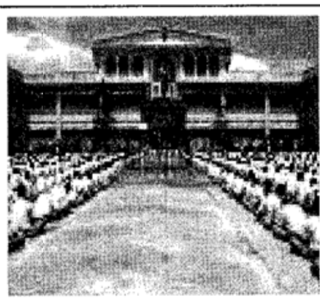
1. भारत के सामाजिक ढांचे को पुनः जीवित करना और उसे विदेशी धर्म एवं संस्कृति से सुरक्षित रखना और
2. समाज सेवी संस्थायें स्थापित करना जिनसे भारत के निवासियों को क्रिश्चियन मिशनों द्वारा स्थापित सामाजिक सेवाओं के प्रयोग की आवश्यकता न रह जाये।

यहाँ की समाज सेवा पद्धति को क्रिश्चियन मिशनों द्वारा स्थापित सामाजिक सेवाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रुप से प्रोत्साहन मिला।

1897 में स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन स्थापित किया। इस मिशन का संगठन क्रिश्चयन मिशनों के संगठन के नमूने पर हुआ। रामकृष्ण मिशन ने ब्रहम् समाज और आर्य समाज से भी अधिक प्रभावी समाज सेवा के कार्य किये।



श्रीरामपुर मिशन



रामकृष्ण मिशन



क्रिश्चिन मिशन

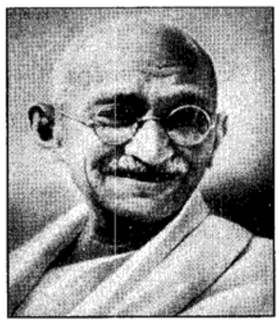
अंग्रेजों के भारत में आने से यहाँ प्रज्ञावाद, प्रजातन्त्र एवं उदारवाद की विचारधाराओं का प्रवेश हुआ। इन विचारधाराओं ने भारत के विचारशील व्यक्तियों को प्रभावित किया। 20वीं शताब्दी के समाज सुधारकों में गोपालकृष्ण गोखले और बाल गंगाधर तिलक का नाम मुख्य रुप से प्रसिद्व है। यह दोनो ही व्यक्ति प्रज्ञावादी थे परन्तु तिलक का उद्देश्य समाज सुधार के साथ–साथ देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना भी था। तिलक ने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की। यह भारत में समाज सेवा के क्षेत्र की सर्वप्रथम सामाजिक संस्था थीं। 20वीं शताब्दी के दूसरे 10 वर्षों में महात्मा गांधी ने भारत की सामाजिक एंव राजनैतिक परिस्थिति को प्रभावित किया। उन्होंने राजनैतिक विद्रोह एवं समाज सुधार के बीच का रास्ता अपनाया। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन के साथ–साथ यहां के सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान के लिए भी प्रयास किया। उन्होंने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की जिसका उद्देश्य हरिजनों की सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं में सुधार करना था।



बाल गंगाधर तिलक



गोपालकृष्ण गोखले

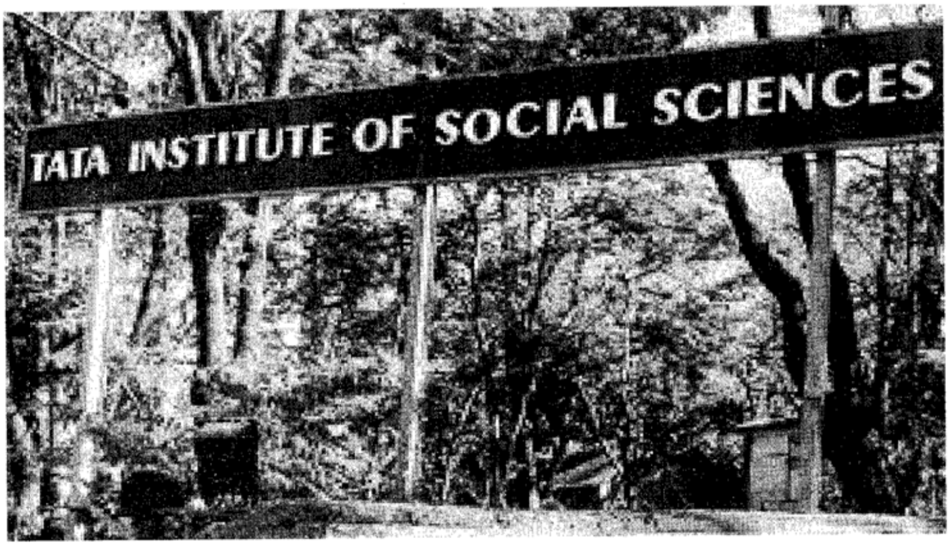


महात्मा गाँधी

समाज सेवा के लिए प्रशिक्षण

भारत में प्राचीन काल से ही समाज सेवा प्रदान करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता रहा है, परन्तु यह प्रशिक्षण एक नैतिक वातावरण में और अनौपचारिक रुप से दिया जाता था। औपचारिक रुप से व्याख्यान एवं व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध प्राचीन समय में नहीं था। 20वीं शाताब्दी में बम्बई में पहली बार इस प्रकार का प्रयास किया गया जबकि वहा सोशल सर्विस लीग की स्थापना हुई। इस संस्था ने स्वयं सेवा के लिए अल्पावधि वाला पाठ्यक्रम चालू किये। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य स्वयं सेवको को समाज सेवा के लिए तैयार करना था। भारत में 1936 के पहले समाज कार्य को एक ऐच्छिक किया समझा जाता था। 1936 में पहली बार समाज कार्य की व्यावसायिक शिक्षा के लिए एक संस्था सर दोराबजी टाटा ग्रेजुएट स्कूल आफ सोशल वर्क के नाम से स्थापित हुई। इस समय इस बात की स्वीकृति भारत में हो

चुकी थी कि समाज कार्य करने के लिए औपचारिक शिक्षा अनिवार्य है। तत्पश्चात् इस विद्यालय का नाम टाटा इन्स्टीट्ट आफ सोशल साइन्स हो गया और अब भी यह इसी नाम से प्रसिद्ध है।

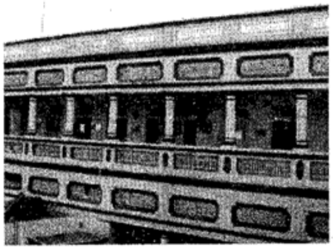


समाज सेवा का प्रथम क्षेत्र

भारत में 18 वीं शाताब्दी में समाज सेवा का सबसे पहले शिशु कल्याण के क्षेत्र में कार्य प्रारंभ हुआ। 18वी शाताब्दी से ही यहॉ अनाथालय एवं निःशुल्क विद्यालय स्थापित किये गये। 19वी शाताब्दी में धर्मार्थ चकित्सालय ऐच्छिक क्षेत्र में स्थापित किये गये। उस समय अधिकतर पृथक पृथक सम्प्रदायो के द्वारा धर्मार्थ संस्थाओं की स्थापना हुई और 20वी शताब्दी के आरम्भ तक इसी प्रकार होता रहा परन्तु 20वी शताब्दी के दूसरे और तीसरे दस वर्षो में स्त्रियों के कल्याण के लिए सामान्य संस्थाएं स्थापित हुई।

1930 के उपरान्त विशेष प्रकार से गांधी जी के नेतृत्व में हरिजन कल्याण का कार्य आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा का भी कार्य आरम्भ हुआ।

20वीं शताब्दी में भारत में ऐच्छिक समाज सेवी संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई। अनाथालयो और शिशु सदनो के अतिरिक्त 20वी शताब्दी के आरम्भ में नेत्रहीनों के लिए विशेष विद्यालय स्थापित हुए परन्तु इस प्रकार का सर्वप्रथम विद्यालय 1887 में ही अमृतसर में स्थापित हो चुका था। यह विद्यालय केवल नेत्रहीन बालिकाओं के लिए ही था और अब यह देहरादून में है। 19वीं शताब्दी के अन्त में पालकोटा अन्धविद्यालय और कलकत्ता अन्धविद्यालय की स्थापना हुई। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे दादर अन्धविद्यालय और विक्टोरिया मेमोरियल अन्ध विद्यालय बम्बई मे स्थापित हुए। वाराणसी में हनुमान प्रसाद पोद्दार अन्ध विद्यालय अन्धे बालकों के लिए शिक्षा एवं आवास की व्यवस्था करता है।



अन्ध विद्यालय अमृतसर

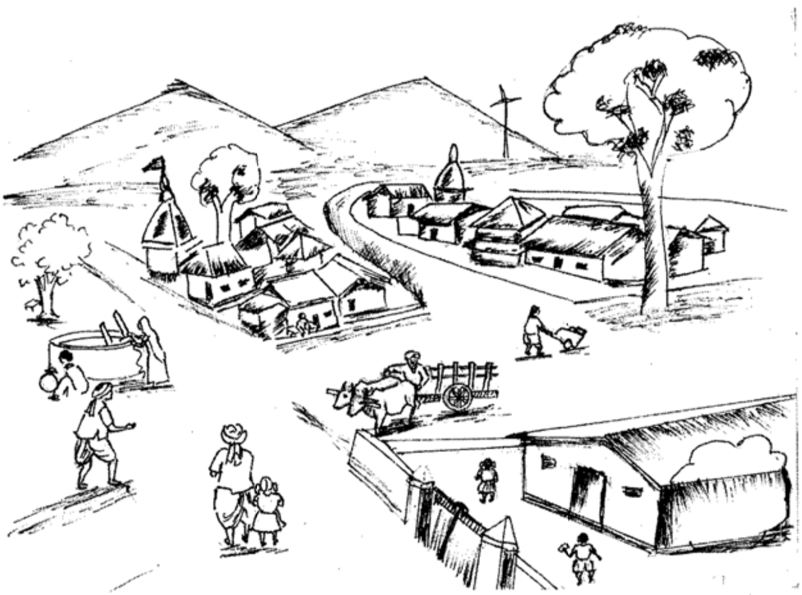


अन्ध विद्यालय कलकत्ता



विक्टोरिया अन्ध विद्यालय बम्बई

समाज कल्याण में राज्य की भूमिका

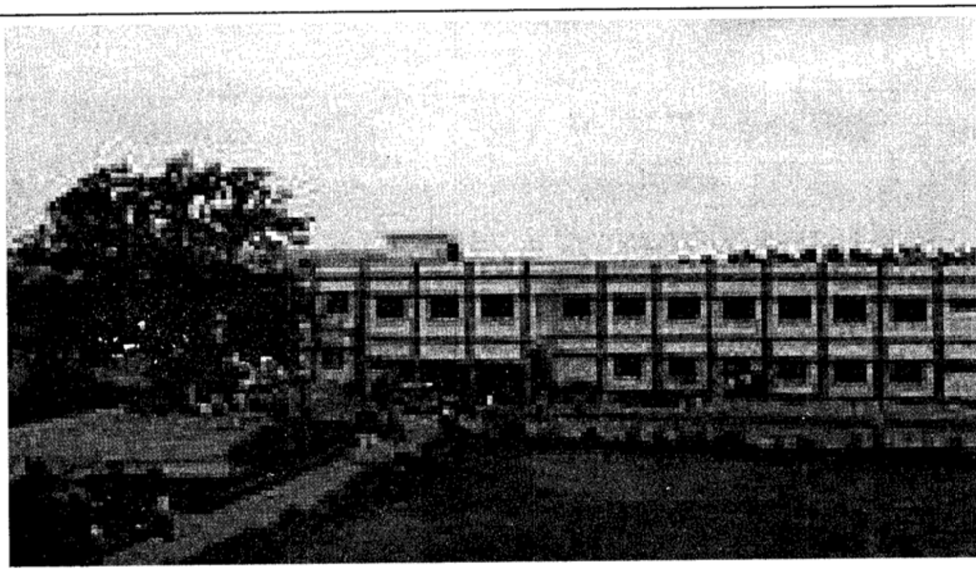


राज्य ने सर्वप्रथम स्वास्थ्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में समाज सेवा प्रदान करना आरम्भ किया। परन्तु यह सेवायें बहुत ही सीमित रुप में प्रदान की जाती रही। अतः समस्त नागरिक इन सेवाओं से लाभान्वित नही हो सके। राज्य की ओर से अनेक स्थानो पर चिकित्सालय एवं विद्यालय स्थापित किये गये परन्तु जनसंख्या को देखते हुए इन चिकित्सालयो एवं विद्यालयों की संख्या बहुत ही कम है। प्रसूति तथा शिशु कल्याण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 20 वीं शताब्दी में लेडी डफरिन फन्ड स्थापित किया गया। आरम्भ में इण्डियन रेड क्रास एवं विशिष्ट प्रसूति तथा शिशु कल्याण समितियों ने इस क्षेत्र में कार्य करना प्रारम्भ किया शनैः शनैः राज्य सरकार और नगरपालिकाओं ने इन सेवाओं का उत्तरदायित्व स्वीकृत कर लिया।



लेडी डफरिन

देहरादून में शासन की ओर से दो संस्थायें स्थापित की गयी है जो नेत्रहीनों की रक्षा और पुनर्वास का कार्य करती है। मूक एवं वधिर व्यक्तियों की सहायता के लिए अति न्यून मात्रा में कार्य किये गये हैं। वर्ष 2000 में चित्रकूट में जगद्गुरू रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय स्थापित हुआ जो सभी प्रकार के विकलांग विद्यार्थियों के लिए शिक्षा एवं आवास की निःशुल्क व्यवस्था करते हैं। राज्य तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रकार की संस्थाओं को सहायता मिलती है।



जगदगुरू रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय चित्रकूट

हमने जाना

- समाज कल्याण का लक्ष्य समाज में ऐसी स्थिति पैदा करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और वह समाज मे समानता और आत्मसम्मान के साथ जीवन–यापन कर सके।

- समाज कल्याण के कार्यों के दो प्रमुख आयाम हैः—

    1. परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति।

    2. व्यक्ति की असमर्थता का निवारण।

- भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समाज कल्याणकारी कार्यों के उदाहरण प्राचीन, मध्ययुगीन व आधुनिक काल में मिलते हैं।

- भारतीय संविधान मे लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के रूप में लोक कल्याण को विशेष महत्व प्रदान किया गया है।

- भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार एवं नीति निर्देशक सिद्धान्तो में समाज कल्याण के तत्व समाहित हैं।

कठिन शब्दों के अर्थ

सामाजिक सेवाओं समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों, स्कीमों एवं योजनाओं को सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत समाहित किया जाता है।

सामाजिक संस्थाओं सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक कार्यों को व्यवस्थित संचालन के लिये स्थापित की गई शासकीय एवं गैर–शासकीय संस्थाओं को सामाजिक संस्था के अन्तर्गत रखा जाता है।

हरिजन सेवक संघ हरिजन सेवक संघ की स्थापना महात्मा गाँधी ने किया था जिसका उद्‌देश्य हरिजनों की सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं में सुधार करना था। उन्होंने स्वयं हरिजनो के सामाजिक उत्थान के लिए अथक प्रयास किया।

अभ्यास के प्रश्न

1. भारत में समाज कार्य का उद्‌भव कैसे हुआ।
2. इसाई मिशनरियों द्वारा किए जाने वाले समाज कार्य के गुण–दोष बतायें।
3. गाँधी जी द्वारा इस दिशा में किए गए प्रयासों को स्पष्ट कीजिए।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

1. समाज कार्य परिचय – प्रो0 राजाराम शास्त्री।

2. समाज कार्य का इतिहास एवं दर्शन – प्रो0 मिर्जा रफुद्दीन अहमद।

3. समाज कार्य – डॉ. जी. आर. मदन।

4. सामाजिक कार्य का परिचय – डॉ. धर्मपाल चौधरी। र प्रायः

■■■

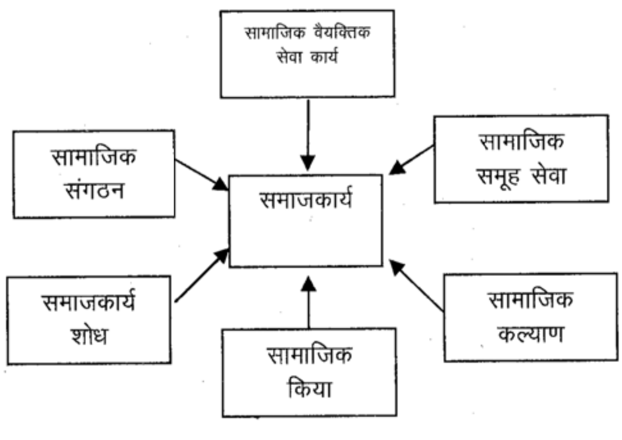
8.2 : वैयक्तिक समाज कार्य (Social Work with Individuals – Case Work)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- वैयक्तिक समाज कार्य की अवधारणा और स्वरूप।
- वैयक्तिक समाज कार्य के प्रमुख सिद्धान्त।
- समाज कार्य की इस विधि के उपयोग में पारंगत होने के लिये आवश्यक दक्षताएँ।

प्रथम वर्ष के मॉड्यूल समाज कार्य के परिचय में आपने समाज कार्य की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त की। इस रेखा चित्र के माध्यम से उस मॉड्यूल में समाज कार्य के अन्तर्गत उपयोग में लायी जाने वाली प्राथमिक एवं द्वितीयक पद्धत्तियों का परिचय आपने प्राप्त किया था। इस मॉड्यूल की इकाई 8.1 में आपको भारत में समाज कार्य के उद्धभव और विकास के संबंध में जानकारी दी गयी। अब समाज कार्य की प्राथमिक पद्धत्तियों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप को आपके सम्मुख स्पष्टता से रखेंगे।



वैयक्तिक समाज कार्य

व्यक्तिगत रूप से यदि कोई एक व्यक्ति किसी समस्या से ग्रस्त है तो किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा उसकी भलाई या कल्याण का कार्य करना ही वैयक्तिक सेवा है। यह कार्य कोई नया प्रयोग नहीं है वरन् बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के प्राचीन ग्रन्थों में इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं। हिन्दू

संस्कृति में नारद ऋषि का तो मुख्यतः यही कार्य था कि सर्वत्र विचरण कर ऐसे व्यक्तियों की सहायता करें जो बाधाओं से ग्रसित हों। गीता में अर्जुन जब विमुख हो जाते हैं तो कृष्ण भगवान विभिन्न उपदेशों के द्वारा उनके भ्रम का निवारण करते हैं और उन्हें वास्तविकता का बोध कराते हैं। कृष्ण के समान ही मानसिक अवसाद से ग्रस्त लोगों की समस्यायों का समाधान करने का कार्य आधुनिक सामाजिक कार्यकर्ता कर रहे हैं।



नारद मुनि



कुरूक्षेत्र में अर्जुन को अभिप्रेरित करते कृष्ण

पाश्चात्य संस्कृति में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में सेन्ट बेसेन्ट डी पाल तथा उन्नीसवीं सदी में ओजानम ने मित्रवत् सम्पर्क के द्वारा अनेक लोगों को उनके घरों पर जाकर उनकी समस्याओं के निराकरण में सहायता की। इस प्रकार की सेवाओं को देने वाले लोग प्रारम्भ में यह मानकर चलते थे कि व्यक्ति के दुःख या कष्ट स्वयं उसी के कर्मों के फल हैं, पर बाद में चलकर इस विचारधारा में कुछ परिवर्तन आया और यह समझा जाने लगा कि व्यक्ति के स्वयं के कर्मों के अतिरिक्त इसका सामाजिक वातावरण भी बहुत अंशों में उसकी समस्याओं का कारण होता है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर एडवर्ड डेनिशन, सर चार्ल्स लाथ तथा आक्टेविया हिल आदि विद्वान व्यक्तिगत सहायता और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के सम्बन्ध में कुछ उच्चस्तरीय सिद्धांत निरूपण की बात सोचने लगे। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य मैरी रिचमण्ड ने किया। उन्होंने वैयक्तिक सेवा कार्य को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। 1917 में की गयी परिभाषा के अनुसार वैयक्तिक कार्य एक कला है, जिसके द्वारा स्त्री–पुरुष और बालकों के सामाजिक सम्बन्धों में अपेक्षाकृत अधिक समायोजन लाने का प्रयास किया जाता है। उस समय के कुछ अन्य समाज सेवकों ने वैयक्तिक कार्य का क्षेत्र निर्धारित करते हुए सामाजिक असमायोजन, असंगति और असफलताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। बाद में चलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास ही वैयक्तिक कार्य का कार्य क्षेत्र माना जाने लगा। काल–क्रम से आत्मोन्नति और विकास की भावना को वैयक्तिक कार्य के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया। 1932 में परामर्श प्रणाली इस कार्य के एक उपकरण के रूप में अपनायी गयी। आगे चलकर हरबर्ट स्पेंसर की जीवन के सम्बन्ध में बतलायी गयी नयी अवधारणा को भी वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत हैमिल्टन आदि विद्वानों

ने अपनाया। हरबर्ट स्पेंसर ने जीवन के आन्तरिक और बाह्य संबंधों में समायोजन की एक सतत् प्रक्रिया के रूप में देखा जो व्यक्तित्व और सामाजिक परिस्थितियों के बीच समायोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। यह बात सर्वमान्य है कि समाजकार्य की इस विधि का कार्य क्षेत्र मुख्यतः व्यक्ति है और इसके अन्तर्गत व्यक्ति को सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी आन्तरिक और बाह्य क्षमताओं का बोध उसे कराते हुए इस प्रकार सहायता दी जाती है कि आवश्यकतानुसार वह अपनी क्षमताओं में परिवर्तन और विकास करते हुए सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभा सके। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस कार्य के अन्तर्गत सहायता का लक्ष्य केवल व्यक्ति कल्याण है। एक व्यक्ति की सहायता करते समय स्वयं उसी के साथ कार्य नहीं करना पड़ता वरन्! कुछ दुसरे व्यक्तियों और सामाजिक वातावरण के कुछ अन्य उपकरणों के साथ भी कार्य करना पड़ता है जो तथाकथित व्यक्ति की समाजिक भूमिका को प्रभावित करते हैं। चूंकि व्यक्ति की सामाजिक भूमिका उसकी मनोवैज्ञानिक, शरीरिक और सामाजिक तीनों प्रकार की शक्तियों से प्रभावित होती है अतः वैयक्तिक कार्य के द्वारा सर्वप्रथम उपर्युक्त तीनों क्षेत्रों से उत्पन्न उन कारकों का पता लगाया जाता है जो व्यक्ति को सामाजिक भूमिका निभाने में बाधा डालते हैं और फिर आवश्यकतानुसार आन्तरिक और बाह्य साधनों को उत्प्रेरित कर, असमायोजन को दूर करते हुए व्यक्ति को इस योग्य बनाया जाता है कि वह अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से सामाजिक वातावरण में अपनी भूमिका निभा सके। इस प्रकार के कार्य द्वारा एक निश्चित प्रकार से व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकाताओं को तो पूरा किया ही जाता है और साथ ही साथ व्यक्ति के जीवन की रचनात्मक क्षमताओं को भी विकसित किया जाता है और परिणामस्वरूप व्यक्ति तथा समाज के लिए एक स्वस्थ पर्यावरण का विकास होता है।

सहायता कार्य के द्वारा कार्यकर्ता व्यक्ति को इस योग्य बनाने का प्रयास करता है कि वह आगे चलकर स्वयं ही अपनी सहायता करने में समर्थ हो। इस उद्‌देश्य की पूर्ति केवल भौतिक सहायता के द्वारा ही नहीं हो सकती है वरन् मनोसामाजिक स्तर पर व्यक्ति की आन्तरिक और बाह्य क्षमताओं को उत्प्रेरित करके ही किया जा सकता है। इस प्रकार के सहायता की प्रकृति मुख्यतः मनोसामाजिक ही होती है।

वैयक्तिक समाज कार्य के द्वारा यद्यपि सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्रान्ति तथा पुनर्निर्माण का कार्य तो नहीं किया जाता पर वातावरण से पड़ने वाले दबाओं में कुछ कमी करके तथा उपचारात्मक सेवाओं द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उसे सामाजिक परिस्थितियों में समायोजन करने के योग्य तो बनया ही जाता है। उसे इस योग्य बना दिया जाता है कि अपनी अयोग्यताओं के बावजूद भी वह सामाजिक क्षतिपूर्ति के द्वारा शान्तिपूर्ण और सुखमय ढंग से जीवन–यापन कर सके। कुछ दशाओं में तो बाधाओं को रोकने का भी कार्य इसके द्वारा किया जाता है।



SaintWisent D Paul



Ojanam



Sir Charles



Octevia



Mary Richmond



Hamilton



Herbert Spencer

कुछ विचारकों के मतानुसार यह कार्य समाज कार्य को किसी निश्चित संस्था के ही अन्तर्गत किया जाना चाहिए। स्वैच्छिक रूप से सहायता करने वालों के कार्य वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। दूसरी ओर कुछ विचारकों का ख्याल है कि अभिकरण या संस्थाओं के द्वारा वैयक्तिक कार्यकर्ताओं के कार्य को निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत रखा जाता है जिससे वैयक्तिक कार्य्र की लक्ष्य प्राप्ति में कठिनाई होती है। पर यह बात तो सर्वमान्य है कि यह कार्य नियमित, क्रमबद्ध और समन्वित रूप से होना चाहिए। साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक साहयता के अतिरिक्त वातारण में परिवर्तन संबंधी कुछ भौतिक वस्तुओं के रूप में भी सहायता देने की आवश्यकता होती है और ये सभी बातें किसी संस्था में ही अपेक्षाकृत अधिक आसानी से की जा सकती हैं।



परिवार परामर्श



किशोरवय परामर्श

वैयक्तिक कार्य की मूल मान्यतायें और सिद्धान्त

- वैयक्तिक कार्य के स्वरूप निर्धारण के साथ ही साथ यह प्रश्न उठता है कि वह सहायता क्यों की जाय? किसी संस्था के अन्तर्गत या निजी रूप में कोई वैयक्तिक कार्यकर्त्ता क्यों किसी असहाय, अपंग या अनाथ व्यक्ति की सहायता करे? वास्तव में इस कार्य के पीछे मानवीय दर्शन और कल्याण की भावना कार्य करती है। मानवीय कष्ट अनपेक्षित है और समाज के सक्षम व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि अक्षम और असहाय व्यक्तियों की सहायता करें। इस सहायता के द्वारा किसी तात्कालिक आवश्यकता की ही पूर्ति नहीं होनी चाहिए वरन् व्यक्ति को इस योग्य बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए कि वह अपनी क्षमताओं का अधिक–से–अधिक विकास करके अधिकतम सुख और सन्तोष का जीवन–यापन करने में समर्थ हो।

दार्शनिक अवधारणाएं एवं मूल्य

मानव मात्र की प्रतिष्ठा में विश्वास :– प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात रूप से कुछ गुण पाये जाते हैं और इस आधार पर अपनी कमियों के बावजूद भी वह प्रतिष्ठा का पात्र है। मानवमात्र की प्रतिष्ठा की अवधारणा प्राचीन ग्रीक और भारतीय संस्कृति में भी पायी जाती है। वेदान्त दर्शन में मानवीय आत्मा और परमात्मा में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानव मात्र की समानता की बात कही गयी है। इस्लाम धर्म में भी इस समानता की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भी इस दार्शनिक अवधारणा को स्वीकार करते हुए समानता और सहयोग के आधार पर हर व्यक्ति को अपनाता है। उसका यह अडिग विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ आन्तरिक क्षमता और क्रियात्मक शक्ति होती है। उन क्षमताओं का पूर्ण रूप से विकास होना चाहिए ताकि व्यक्ति अपनी सामाजिक भूमिका सक्रिय रूप से अदा कर सके। विकास के साथ ही साथ परिवर्तन की अवधारणा पर भी कार्यकर्त्ता अडिग विश्वास रखता है। प्रत्येक व्यक्ति में परिवर्तन हो सकता है। इस आधार पर सहायता कार्य के प्रारम्भिक दिनों में सेवार्थी की समस्याओं अथवा व्यवहारों में कोई विशेष परिवर्तन करने में यदि वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सफल नहीं होता है तो भी वह निराश नहीं होता है और उचित प्रयास के द्वारा आगे चल कर परिवर्तन करने में सफल होता है।

सामाजिक न्याय :–सामाजिक न्याय के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विचार, क्रिया और उन्नति करने के समान अवसर की उपलब्धि पर भी वैयक्तिक कार्यकर्ता विश्वास करता है। साथ ही साथ

व्यक्ति और समाज की आत्म निर्भरता पर भी विश्वास किया जाता है। व्यक्ति के कल्याण और सुरक्षा की बहुत कुछ जिम्मेदारी समाज के ऊपर होती है। व्यक्ति का अधिकार है कि वह समाज से ऐसी व्यवस्था की आशा करे जिसमें उसकी मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और समाज का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के लिए इन सुविधाओं की व्यवस्था करे; पर साथ ही साथ व्यक्ति की समाज के प्रति कुछ जिम्मेदारी भी होती है। किसी भी कार्य को करते समय उसे समाज की भलाई का बराबर ध्यान रखना पड़ता है।

व्यक्ति की समस्याओं के अनेक कारक :– व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर हर व्यक्ति की समस्याओं के कारण भी अलग–अलग होते हैं। वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि हर व्यक्ति में कुछ अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं, अतः हर व्यक्ति को अलग–अलग और समग्र इकाई के रूप में ग्रहण कर उसकी समस्याओं को हल करने की आवश्यकता है।

योग्यतम व्यक्ति के जीने की अवधारणा :– इसके विपरीत इस कार्य के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम सुख और शान्ति के साथ जीवन यापन में सहायता देने की बात में विश्वास किया जाता है। अयोग्य और असहाय व्यक्तियें की भी आधारभूत आवश्यकताएँ और इच्छाएँ वही होती हैं जो योग्य और समर्थ व्यक्तियों की होती हैं। फिर यह आवश्यक नहीं है कि धनी और शक्तिमान व्यक्ति ही योग्य व्यक्ति हों और निर्धन तथा कमजोर व्यक्ति अयोग्य ही हों। समाजीकृत व्यक्ति असमाजीकृत व्यक्ति की अपेक्षा अधिक वांछनीय होता है।

पूर्ण समता और पारस्परिक आदर :– व्यक्ति की स्वतंत्रता और सुरक्षा के सह–अस्तित्व पर भी विश्वास किया जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण किए बिना प्रत्येक विपत्ति से सुरक्षा प्रदान करके ही उसकी सृजनात्मक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कार्यकर्त्ता सेवार्थी को किसी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं करता है पर आत्म–निर्णय की भी सीमाएँ होती हैं। व्यक्ति के निर्णय सामाजिक मर्यादा और समाज के कल्याण की भावना से सदैव नियन्त्रित होते हैं।

कर्मवाद :– भारतीय संस्कृति में कर्मवाद के सिद्धान्त की बात है। सामान्य भारतीय जन–मानस में प्रायः लोग अपने सुख का सम्बन्ध अपने विगत जीवन के कर्मों से जोड़ लेते हैं। भारतीय वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत कर्मवाद को अपना कर व्यक्ति के भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए उसके वर्तमान में उसे अच्छे कर्मों को करने की प्रेरणा दी जा सकती है।

स्वान्तः सुखाय सेवा :– के सम्बन्ध में भी भारतीय संस्कृति और दर्शन से प्रेरणा ली जा सकती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावनाओं और संवेगों को नियन्त्रित करते हुए, वस्तुस्थिति को देखते हुए अपने स्व को अत्यन्त चेतन रूप में प्रयोग करे। भारतीय संस्कृति में भी ऐसे साधकों की बात कही जाती है जो अपने निरन्तर साधना और प्रयास से इस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ उनका मस्तिष्क न तो सांसारिक आपदाओं से प्रभावित होता है और न व्यक्तिगत सुख की कामना करता है। ऐसे ही व्यक्ति दूसरों की भलाई का कार्य करते हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में नारद से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक अनेक ऐसे कर्मयोगियों के कृत्य विद्यमान हैं।

वैयक्तिक सेवा कार्य के सिद्धान्त

वैयक्तिक कार्य के सम्बन्ध में कुछ मार्ग निर्देशक सिद्धान्तों को भी विकसित किया गया है। प्रत्येक वैयक्तिक कार्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सहायता कार्य में उन सिद्धान्तों का प्रयोग करे। कुछ मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

स्वीकृति का सिद्धान्त

सर्वप्रथम स्वीकृति का सिद्धान्त आता है। इस सिद्धान्त के पीछे मानवतावाद की अवधारणा कार्य करती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी के कृत्यों पर ध्यान न देकर उसके मानवोचित गुणों के आधार पर उसे स्वीकार करता है। सामान्यतः सेवार्थी जब वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के पास सहायता लेने के लिए जाता है तो वह अपनी दबावपूर्ण परिस्थितियों तथा कुण्ठा आदि के कारण कुछ हीनता की भावना से ग्रस्त रहता है और कार्यकर्त्ता अपने अनुभव, ज्ञान और संस्था द्वारा प्रदत्त पद आदि के आधार पर सेवार्थी की दृष्टि में एक उच्चकोटि का व्यक्ति होता है। कभी–कभी सेवार्थी कुछ इस प्रकार की भावनाओं से ग्रस्त रहता है कि उसकी अहम्शक्ति भी बहुत कमजोर पड़ जाती है। ऐसी दशा में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से आशा की जाती है कि वह मानवोचित गुणों के आधार पर सेवार्थी को आदर और प्रतिष्ठा के साथ अपनायें ताकि सेवार्थी को एक प्रकार की राहत और आत्म–सम्मान का बोध हो साथ ही साथ उसकी अहम् शक्ति में भी वृद्धि हो।



Acceptance

<u>सम्बन्ध–स्थापन का सिद्धान्त</u>

सम्बन्ध–स्थापन भी स्वयं अपने में एक सिद्धान्त है। वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत वैयक्तिक कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के सम्बन्धों का अत्यधिक महत्त्व है। सेवार्थी के साथ स्थापित किया गया सम्बन्ध ही एक ऐसा उपकरण होता है जिसके माध्यम से कार्यकर्त्ता सेवार्थी को उपचार की योजना के कार्यान्वयन में लगाता है। उचित सम्बन्ध स्थापन के पश्चात् ही कार्यकर्त्ता सेवार्थी की समस्या और उसके आन्तरिक और बाह्य वातावरण सम्बन्धी विभिन्न बातों की उचित जानकारी प्राप्त करने में समर्थ होता है। सम्बन्ध स्थापना के अन्तर्गत वस्तुगत और विषयगत दोनों प्रकार की भावनाओं का समावेश होता है। कुशल कार्यकर्त्ता के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपनी भावनाओं के प्रति हमेशा सचेत रहे और अपने 'स्व' को अत्यन्त सचेतन रूप में उपयोग करे। सम्बन्ध–स्थापन के अन्तर्गत वास्तविक और अवास्तविक दोनों प्रकार की भावनाओं का भी समावेश होता है। कुशल कार्यकर्त्ता उनका उचित रूप से नियन्त्रण और उपयोग करता है। सम्बन्धों के व्यावसायिक पक्ष पर भी कार्यकर्त्ता का ध्यान केन्द्रित रहता है। व्यावसायिक सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित होते हैं। कार्यकर्त्ता अपनी व्यक्तिगत बातों को कम–से–कम इन सम्बन्धों के बीच नहीं आने देना चाहता है। इस प्रकार के सम्बन्ध के अन्तर्गत उत्तरदायित्व का पारस्परिक वितरण, एक दूसरे के अधिकारों की मान्यता तथा मतभेदों की स्वीकृति का समावेश होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता सेवार्थी को आदर और प्रतिष्ठापूर्वक अपनाते हुए ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें सेवार्थी यह समझता है कि उसकी भावनाओं को मान्यता मिली है। पर साथ ही साथ कार्यकर्त्ता के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता का भी सेवार्थी पर प्रभाव पड़ता है और उसके प्रति एक विश्वास की भावना भी सेवार्थी के मन में उदित होती है, जिसके परिणामस्वरूप सेवार्थी अपनी समस्याओं को अधिक स्पष्टता से

कार्यकर्त्ता को बतलाता है और कार्यकर्त्ता के सुझावों को भी स्वीकार करता है। पर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भी इस बात का यथाशक्ति प्रयास करता है कि विभिन्न परिस्थितियों में अपने निर्णय और सुझाव कम–से–कम दे, यथाशक्ति सेवार्थी को ही अपना निर्णय देने का अवसर दे। इस प्रकार सम्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त वैयक्तिक सेवा कार्य का आधारभूत सिद्धान्त है।

सेवार्थी की मनोदशा के अनुसार ही कार्यारम्भ करना

सेवार्थी की मनोदशा के अनुसार ही कार्यारम्भ करना भी एक सिद्धान्त है। सहायता कार्य के आरम्भ में इसके द्वारा सम्बन्ध स्थापन में सहायता मिलती है। प्रारम्भ में कार्यकर्त्ता सेवार्थी के लिए अपरिचित रहता है। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता यदि सेवार्थी की मनोदशा के अनुकूल ही बात आरम्भ करता है तो स्वाभाविक रूप से सेवार्थी भी वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के प्रति अभिरुचि प्रदर्शित करता है। इस प्रकार सम्बन्ध धीरे–धीरे स्थापित होते हैं। कभी–कभी प्रारम्भ में जब कार्यकर्त्ता को सेवार्थी की मनोदशा का ज्ञान प्राप्त नहीं रहता है तो वह सेवार्थी को ही अपनी बातों को कहने के लिए उत्साहित करता है और उसके आधार पर वह सेवार्थी की मनोदशा का ज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल कार्य करता है।



Work according to mental condition

संचार का सिद्धान्त

संचार का सिद्धान्त भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। कार्यकर्त्ता और सेवार्थी जब एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें आपस में विचारों का आदान–प्रदान होता है। यह कार्य तभी उचित रूप से हो सकता है जब सेवार्थी और कार्यकर्ता ऐसी भाषा और प्रतीकों का प्रयोग करें जो एक दूसरे की समझ में आसानी से आ जायँ। इसके लिए कार्यकर्त्ता भी सामान्यतः वही भाषा प्रयोग करता है जो सेवार्थी कर रहा हो। आरम्भ में कार्यकर्त्ता सेवार्थी के लिए अपरिचित रहता है, अतः अपनी अनेक गुप्त बातों को सेवार्थी कार्यकर्त्ता को तब तक नहीं बतलाता है जब तक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता है कि

उसकी व्यक्तिगत सूचनाओं को उसी के हित के लिए उपयोग किया जायेगा। अतः कार्यकर्त्ता अपनी बात–चीत और कार्यों के द्वारा सेवार्थी को यह विश्वास दिलाता है कि जो भी बातें वह सेवार्थी से पूछ रहा है वह उसी की भलाई के लिए पूछ रहा है। स्पष्ट रूप से विचारों के आदान–प्रदान से सेवार्थी की समस्याओं को कार्यकर्त्ता भलीभाँति समझ पाता है और कार्यकर्त्ता के कार्यों की उपयोगिता को सेवार्थी समझ पाता है। इस प्रकार संचार के सिद्धांत की मूल मान्यता समस्या को सुलझाने के लिए कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के पारस्परिक योगदान के स्पष्टीकरण पर आधारित है।





वैयक्तीकरण के सिद्धान्त

वैयक्तीकरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत वैयक्तिक कार्यकर्त्ता यह स्वीकार करता है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो दूसरों से मिलती हैं तथापि हर व्यक्ति की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो दूसरों में नहीं पायी जाती हैं। इस आधार पर हर व्यक्ति दूसरे से अलग किया जा सकता है। हर व्यक्ति की समस्याएँ होती हैं, पर एक व्यक्ति की समस्या से दूसरे की समस्या में कुछ भिन्नता पायी जाती है। समस्या एक–सी होने के बावजूद भी उनके कारणों में भिन्नता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त एक ही समस्या का प्रभाव भिन्न–भिन्न व्यक्तियों पर उनके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर भिन्न–भिन्न रूप से पड़ सकता है। समस्या के निराकरण की क्षमता भी हर व्यक्ति में दूसरों से भिन्न होती हैं। अतः इस सिद्धांत के अनुसार हर व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा उसकी सहायता के लिए उसकी समस्याओं का अलग तरीके से अध्ययन, निदान और उपचार किया जाता है।

गोपनीयता का सिद्धान्त

गोपनीयता का सिद्धान्त भी वैयक्तिक कार्य का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। चूँकि कार्यकर्त्ता को मुख्यतः सेवार्थी की मनोसामाजिक समस्याओं की ही निराकरण करना पड़ता है, अतः इस कार्य के लिए आवश्यक है कि वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी के अन्तर में जाकर समस्या से सम्बन्धित आन्तरिक रहस्यों और उन गोपनीय बातों का भी ज्ञान प्राप्त करें जिन्हें सेवार्थी भय, लज्जा अथवा अन्य किसी कारणवश दूसरों से नहीं बतलाना चाहता है– तभी वह सेवार्थी की समस्या का सम्यक् अध्ययन और निदान करने में सफल होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यकर्त्ता सेवार्थी में इस बात का विश्वास पैदा करता है कि जो भी बातें उन दोनों के बीच हो रही हैं वे दूसरों को नहीं बतलायी जायेंगी। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं होता है कि कार्यकर्त्ता सेवार्थी सम्बन्धी विवरण प्रकाशित नहीं करता है वरन् उससे यह भी आशा की जाती है कि यदि वह सेवार्थी और उसकी पत्नी दोनों से अलग–अलग साक्षात्कार कर रहा है तो दोनों की बातें एक दूसरे से न बतलाये। सामान्यतः ऐसी परिस्थितियाँ बहुत कम आती हैं। मुख्य रूप से कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि सेवार्थी की मनोसामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का वह जिम्मेदारी पूर्वक उपयोग करेगा।



कार्यकर्त्ता के आत्मबोध के सिद्धान्त

वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत इसका विशेष महत्त्व होने के कारण इसे एक पथ–प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। कार्यकर्त्ता की अपनी भावनाएँ और विगत जीवन के अनुभव भी सेवार्थी के साथ स्थापित कर उसके सम्बन्धों को प्रभावित करते रहते हैं। बालक सेवार्थी की बहुत सी समस्याओं से कार्यकर्त्ता स्वयं अपने विगत जीवन की समस्याओं का तादात्मीकरण करने लगता है, परिणाम–स्वरूप कभी–कभी वह बालक को आवश्यकता से अधिक संरक्षण

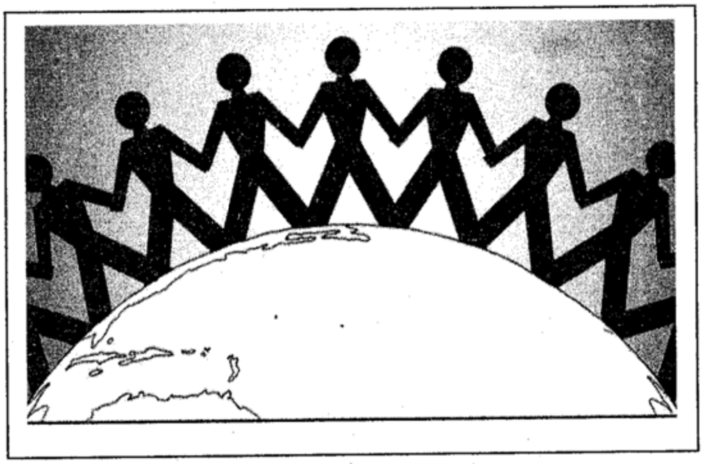
प्रदान करने लगता है। दूसरी परिस्थितियों में कभी–कभी वह अपनी भावनाओं के कारण सेवार्थी से आवश्यकता से अधिक घृणा भी करने लगता है। सफल कार्यकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि सेवार्थी की भावनाओं और समस्याओं को स्वयं अपनी भावनाओं और समस्याओं से अलग करके देखे। प्रारम्भ में कार्यकर्त्ता को इस सम्बन्ध में विशेष कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। उसके लिए यह आवश्यक है कि समय–समय पर वह आत्मपरीक्षण करता रहे और इस बात का भी ध्यान रखे कि उसकी अपनी भावनाओं और सेवार्थी की भावनाओं को अलग–अलग करके दोनों के साथ कार्य करना है। प्रशिक्षक कार्यकर्त्ता के निरीक्षण के समय उसे आत्मबोध कराते रहते हैं।

<u>सहकार का सिद्धान्त</u>



यह जनतन्त्र और स्वावलम्बन की भावना पर आधारित है। कार्यकर्त्ता सदैव इस बात में विश्वास करता है कि वह सेवार्थी के साथ कार्य कर रहा है, उसके लिए कोई कार्य नहीं कर रहा है। इसके द्वारा सेवार्थी के स्वावलम्बन की भावना को बढ़ावा मिलता है व आगे चलकर वह अपनी सहायता स्वयं ही कर लेने में सफल होता है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से कार्यकर्त्ता यह ध्यान रखता है कि समस्याओं के उपचार की योजना बनाने में तथा उस योजना के कार्यान्वयन में सेवार्थी का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो, यह नहीं कि कार्यकर्त्ता ही सेवार्थी के लिए सब कुछ कर दे और सेवार्थी परावलम्बी बन कर बैठा रहे। कार्यकर्त्ता सदैव इस बात का प्रयास करता है कि अपने सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय सेवार्थी स्वयं ही करे और आवश्यकतानुसार सेवार्थी ही उपचार की दिशा में कार्य करे तथा समय–समय पर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता उसे सलाह

देता रहे। इस सिद्धान्त के उचित प्रयोग से सेवार्थी आत्मनिर्भर तो होता ही है पर साथ ही साथ उसकी अहम् शक्ति का भी विकास होता है।



<u>सेवार्थी की भावनाओं को भी वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करना</u>

सेवार्थी अपनी विभिन्न समस्याओं तथा अपने वातावरण से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों के बारे में कुछ निजी विचार या धारणाएँ बना लेता है। यद्यपि ये विचार और भावनाएँ वास्तविक तथ्य से परे भी हो सकती है पर सेवार्थी के व्यवहार उन्हीं के द्वारा परिचालित होते हैं। अतः सेवार्थी के व्यवहारों में परिवर्तन लाकर उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु यह आवश्यक होता है कि कार्यकर्त्ता सेवार्थी की भावनाओं को भी वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करे और आवश्यकतानुसार उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उनमें आवश्यक परिवर्तन लाने का भी प्रयास करे, तभी व सेवार्थी के व्यवहारों में भी परिवर्तन ला सकता है।

आत्म–निर्णय की अवधारणा

आत्म–निर्णय की अवधारणा को समाज–कार्य के एक मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को यह मान्यता इतनी उपयोगी प्रतीत होती है कि इसे मूल रूप में वैयक्तिक कार्य के पथ–प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। कार्यकर्त्ता सेवार्थी को हर कदम पर आत्म–निर्णय का अधिकार देता है, कभी भी अपने निर्णय उसके ऊपर नहीं आरोपित करता है। वह विभिन्न प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी की अहम् शक्ति को इस प्रकार विकसित करता है कि अपने बारे में वह उचित निर्णय ले। पर इस सिद्धान्त की कुछ सीमाएँ भी होती हैं। कभी–कभी सेवार्थी की अहम् शक्ति इतनी कमजोर होती है कि वह अपने बारे में उचित निर्णय

नहीं ले पाता है अथवा कभी–कभी उसके निर्णय व्यक्तिगत दृष्टि से उसके लिए तो हितकारक होते हैं पर समाज के लिए हानिकारक होते हैं। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता कभी–कभी इस सिद्धान्त की उपेक्षा करते हुए यथोचित कार्यों को करने की सेवार्थी को सलाह देता है।



Right to self determitation

आवश्यक साधनों के उपयोग का सिद्धान्त

वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि संस्था और समुदाय के विभिन्न साधनों का उसे भलीभाँति ज्ञान हो और आवश्यकतानुसार सेवार्थी की क्षमताओं के विकास हेतु उनका प्रयोग भी वह करे। पर साधनों का प्रयोग करते समय कार्यकर्त्ता को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सेवार्थी को विभिन्न साधनों की जानकारी कराते हुए इस प्रकार से उत्साहित करे कि सेवार्थी स्वयं अपने प्रयासों के द्वारा उन साधनों की प्राप्ति करे। पर कभी–कभी कुछ विशेष कारणों से सेवार्थी इस योग्य नहीं होता है कि अपने प्रयासों के द्वारा ही सफलता प्राप्त कर ले। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता को स्वयं भी सेवार्थी के लिए आवश्यक साधनों की उपलब्धि हेतु प्रयास करने पड़ते हैं।

<u>प्रविधियाँ</u> (Techniques)

तादात्मीकरण– इसके कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ आत्मीयता और सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उसकी भावनाओं के साथ तादात्मरू स्थापित करता है अर्थात कार्यकर्ता यह प्रदर्शित करता है कि किसी परिस्थिति विशेष में सेवार्थी के मन में जो भावनायें उत्पन्न होती हैं वही भावनायें उसके (कार्यकर्ता के) मन में भी उत्पन्न हो रही हैं। इससे सेवार्थी के मन में कार्यकर्ता के प्रति आत्मीयता की भावना का उदय होता है व दोनों के सम्बन्ध में कुछ और ानिष्ठ होते हैं। सेवार्थी को कुछ राहन–सी महसूस होती है और उसके मानसिक तनाव भी कुछ कम हो जाते हैं।

स्वीकृति– इस विधि के द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी को आदर और प्रेम के साथ अपनाने की भावना का प्रदर्शन करता है। इसके द्वारा सेवार्थी कुछ विशेष आवश्वस्त सा महसूस करता है, उसमें एक नवीन आशा और उत्साह की भावना जागृत होती है। कार्यकर्ता सेवार्थी द्वारा प्रयुक्त रक्षात्म्क उपायों को भी स्वीकार करता है। यदि सेवार्थी का कोई व्यवहार स्वीकार करने योग्य नहीं हो तो भी कार्यकर्ता उक्त व्यवहार के पीछे छिपी हुई भावनाओं का अन्वेषण करता है और आवश्यकतानुसार स्वीकृति प्रदान करता है। इन बातों के द्वारा दोनों के सम्बन्ध दृढ़ होते है। तथा सेवार्थी कुछ अधिक आश्वस्त–सा महसूस करने लगता है।

पुष्टीकरण– इस विधि के द्वारा कर्यकर्ता सेवार्थी की स्वयं अपने प्रति या अन्य लोगों के प्रति महसूसू की गयी यथार्थ भावनाओं और विचारों का पुष्टीकरण करता है। इससे सेवार्थी के मन में अपने प्रति एक विश्वास की भावना का जागरण होता है और उसकी अहम्शक्ति भी अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होती है।

प्रोत्साहन– इस कार्य के द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी द्वारा किये गये सफल और उचित कार्यों के लिए उसकी प्रशंसा करता है। परिणामस्वरूप सेवार्थी में एक नवीन उत्साह एवं साहस की भावना का उदय होता है और उसकी अहम्शक्ति का भी विकास होता है।

सामान्यीकरण– जब परिस्थिति विशेष से सेवार्थी अत्यधिक घबड़ा जाता है अथवा यह महसूस करने लगता है कि उसने बहुत अधिक गलत कार्य किया है और इस अनुभूति से उसमें एक प्रकार की दोष भावना का उदय होता है जिसका प्रभाव उसके अन्य कार्यों पर भी पड़ने लगता है तो इस उप–विधि का प्रयोग किया जाता है। इस उप–प्रविधि के द्वारा सेवार्थी में रक्षात्मक वृत्तियों का पुनर्निर्माण किया जाता है। उसे यह बोध कराया जाता है कि ऐसी परिस्थिति में प्रायः सभी लोग उक्त प्रकार के कार्य कर बैठते हैं। इस अनुभूति से सेवार्थी को कुछ राहत मिलती है और उसकी परेशानी भी कुछ कम हो जाती है।

संक्षिप्तीकरण– किसी परिस्थिति विशेष में जब अनेक प्रकार के प्रभाव सेवार्थी के मन में उत्पन्न होते हैं और वह इन प्रभावों की व्यापकता से परेशान होकर अपना कार्य निश्चित नहीं कर पाता है तो इस प्रविधि का कार्यकर्ता प्रयोग करता है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता विभिन्न कारणों और प्रभावों तथा विचारधाराओं को एक दूसरे से अन्तः संबंधित करके संक्षिप्त रूप में सेवार्थी के समक्ष रखता है। फलस्वरूप सेवार्थी अपेक्षाकृत अधिक आसानी से समस्याओं और उनके कारणों को जानते हुए उनके निराकरण के मार्ग पर अग्रसर होता है।

व्याख्या– कभी–कभी भ्रम और वास्तविक जानकारी के अभाव में सेवार्थी व्यर्थ की समस्याओं अथवा उनके गलत प्रभावों की आशंका से परेशान रहता है। ऐसी दशा मे कार्यकर्ता उचित व्याख्या के द्वारा सेवार्थी की गलत धारणाओं का निराकरण करता है और वास्तविकता का बोध कराते हुए नवीन सिरे से कार्य करने के लिए उसे उत्साहित करता है।

पुनर्विश्वासीकरण– यह एक सीधा और स्पष्ट कथन है जिसके द्वारा वैयक्तिक कार्यकर्ता सेवार्थी को यह संकेत करता है कि उसकी भावनायें और व्यवहार समझने योग्य हैं अथवा उसकी समस्याओं का हल सम्भव है। इसके द्वारा सेवार्थी की चिन्ता तथा डर की भावना में कमी आती है और वह अपने को आश्वस्त महसूस करने लगता है। इस विधि के उचित एवं प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए वास्तविक स्थिति का जानना आवश्यक होता है ताकि गलत और झूठा विश्वास न दिला दिया जाय।

विभक्तीकरण– कभी–कभी एक ही साथ सेवार्थी अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त रहता है और समय तथा साधन के सीमित होने के कारण कार्यकर्ता सभी समस्याओं को एक साथ ही हल नहीं कर सकता। अतः कार्यकर्ता सेवार्थी की सहायता से समस्याओं को कई भागों में विभाजित कर लेता है तथा सबसे पहले अत्यावश्यक समस्याओं का हल करता है।

निर्देशन– कभी–कभी सेवार्थी की कुछ विशिष्ट भावनाओं और स्थितियों के नियन्त्रण हेतु कार्यकर्ता सेवार्थी को कुछ विशेष और अधिकारयुक्त निर्देशन भी देता है। पर यह कार्य तभी करना चाहिए जब सेवार्थी और कार्यकर्ता का सम्बन्ध अति घनिष्ठ हो और कार्यकर्ता को यह विश्वास हो कि सेवार्थी उसकी सलाह को मान जायेगा। इसके अतिरिक्त जिस विषय में सलाह दी जा रही है उस विषय की पूर्ण और निश्चित जानकारी भी कार्यकर्ता को होनी चाहिए।

शिक्षण– इस कार्य के द्वारा सेवार्थी को कार्यकर्ता उसकी समस्याओं, सामाजिक वातावरण अथवा उपचारात्मक उपायों के बारे में कोई ऐसी नवीन जानकारी कराता है जो अबतक सेवार्थी को नहीं थी। उक्त जानकारी के उचित उपयोग से सेवार्थी को अपनी समस्याओं के हल में विशेष सहायता मिलती है।

स्पष्टीकरण– इस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी को उसके व्यवहारों के सम्बन्ध में तथ्यात्मक जानकारी करायी जाती है। इससे उसे यह पता चलता है कि उसके व्यवहारों की सचेतन प्रेरणा क्या है, व्यवहारों के चारों ओर कौन–कौन सी चेतन भावनायें कार्य कर रही हैं। इन सबसे सेवार्थी को यह पता चलता है कि उसके व्यवहार उसके उद्देश्यों की पूर्ति में समर्थ हैं या नहीं। इस जानकारी के फलस्वरूप वह अपने व्यवहारों में स्वयं ही रचनात्मक परिवर्तन कर अपने उद्देशें की पूर्ति का प्रयास काता है। इस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी की गलत धारणाओं को दूर किया जाता है और उसे नवीन

बातों की जानकारी करायी जाती है। साथ ही साथ उसकी अहमशक्ति को इस तरह बढ़ा दिया जाता है कि वह विभिन्न परिस्थितियों को अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझने लगता है ओर उनके अनुसार अपने व्यवहारों में भी परिवर्तन कर सकता है।

इस प्रविधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है, जबकि कार्यकर्ता और सेवार्थी का सम्बन्ध अति घनिष्ठ हो और कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी के व्यवहारों की आलोचनात्मक परीक्षा करने पर भी सेवार्थी के मन में वैयक्तिक कार्यकर्ता के प्रति कोई नकारात्मक भावना उत्पन्न नहीं होती हो। साथ–ही–साथ सेवार्थी में सहन शक्ति का भी यथोचित विकास होना चाहिए ताकि समय–समय पर वह स्वयं ही अपने व्यवहारों का आत्मपरीक्षण तथा मूल्यांकन कर सके। इन बातों के अतिरिक्त इस विधि के प्रयोग के समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि इसके द्वारा जिस बात की जानकारी दी जाय वह सेवार्थी के लिए ग्राह्य हो।

सामान्यतः इस विधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कि सेवार्थी का समस्याओं का समाधान आलम्बन की प्रविधि के द्वारा सम्भव न हो।

प्राख्या– इसके द्वारा सेवार्थी को अर्धचेतन स्तर के नजदीक की समस्याअें और उनके पीछे छिपे कारणों, व्यवहारों तथा भावनाओं की जानकारी करायी जाती है। स्पष्टीकरण और प्राख्या में मुख्यतः दो अन्तर हैं। स्पष्टीकरण का प्रयोग मुख्यतः चेतन और सामान्य कोटि की समस्याओं के लिए किया जाता है और प्राख्या का प्रयोग मुख्यतः अर्धचेतन और गम्भीर समस्याओं के समाधान हेतु किया जाता है। स्पष्टीकरण की स्थिति में वैयक्तिक कार्यकर्ता सेवार्थी से कुछ इस प्रकार के प्रश्न पूछता हैं अथवा उसकी विभिन्न समस्याओं पर कुछ इस प्रकार की टीका करता है कि सेवार्थी को अपने आप ही अपेक्षित बातों की जानकारी हो जाती है। इसके विपरती प्राख्या की विधि के प्रयोग के समय आवश्यक प्रश्न और टीका इत्यादि के अतिरिक्त कार्यकर्ता को अपने आप भी कुछ बातों की जानकारी स्पष्ट और सीधे शब्दों में सेवार्थी को देनी पड़ती है।

प्राख्या की प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं। प्रथम चरन में सेवार्थी को इस बात के लिए तैयार किया जाता है कि वह सुरक्षात्मक उपयायों को त्याग दे जिनके कारण उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता है। इसके लिए कार्यकर्ता सेवार्थी से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर कुछ प्रश्नों या टीकाओं के द्वारा सेवार्थी का ध्यान उसके सुरक्षात्मक व्यवहारों की ओर आकर्षित करता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि कार्यकर्ता को इस बात का ज्ञान ही हो कि उसके सुरक्षात्मक व्यवहारों के पीछे कौन–कौन से अग्राह्य तत्व छिपे हुए हैं। उसे केवल इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि उसकी

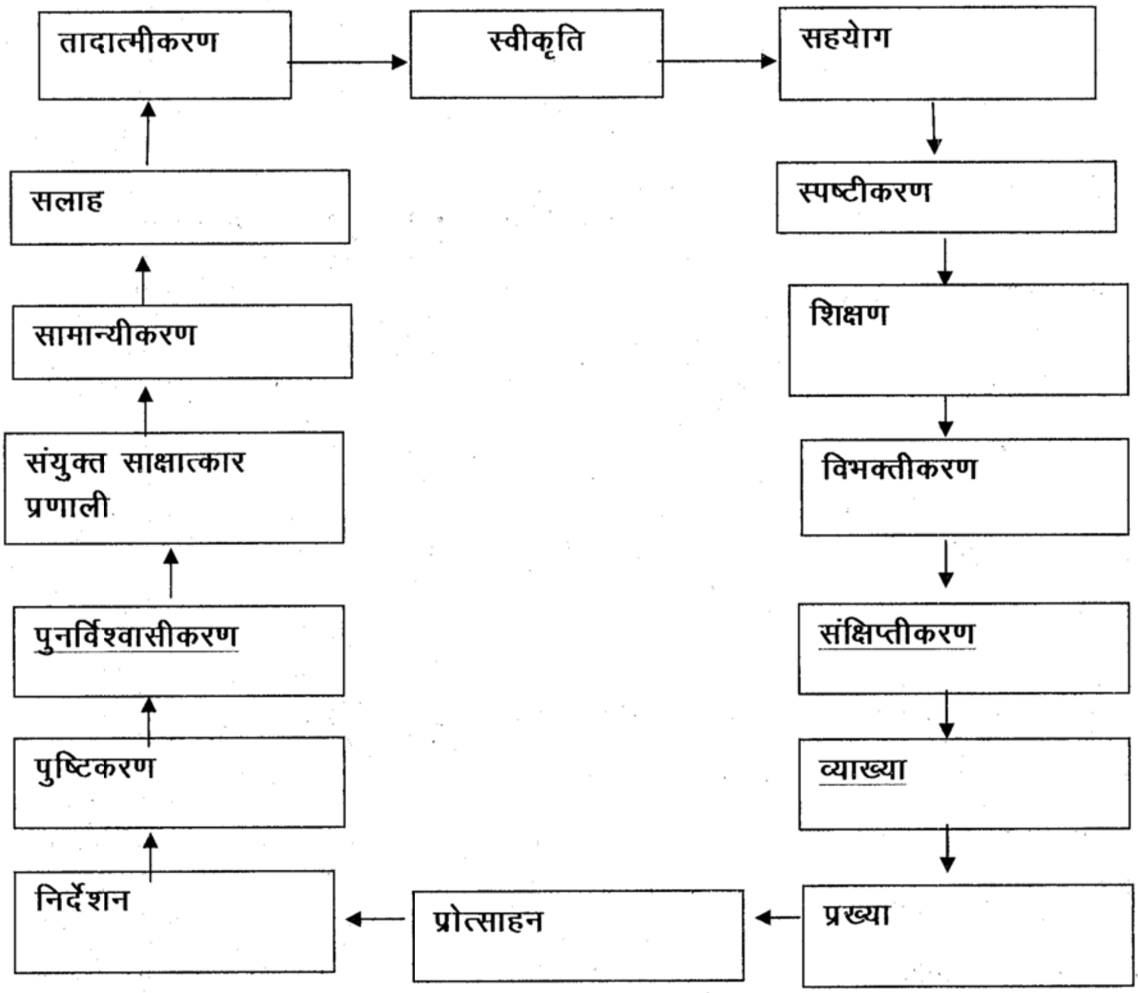
टीकाओं और प्रश्नों की सेवार्थी के ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई है उसे अनुकूल दिशा में मोड़ते हुए सेवार्थी की भावनाओं का अन्वेषण वह कर सके। दूसरे चरण में कार्यकर्ता सेवार्थी को वास्तविक तथ्यों की जानकारी कराता है। सामान्यतः सीधे और स्पष्ट विवरण के द्वारा इस प्रकार की जानकारी सेवार्थी को करायाी जाती है। यह जानकारी उन्हीं तथ्यों के बारे में करायी जाती है जो चेतन मन के लगभग नजदीक हो। यथाशक्ति सम्बल को विभिन्न उपप्रविधियों का प्रयोग करते हुए इस जानकारीं को सेवार्थी के लिए ग्राह्य भी बनाना चाहिए।

उपर्युक्त सभी प्रविधियों के समयानुकूल प्रयोग के द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी की समस्याओं के उपयार का प्रयास करता है। प्रविधि का चुनाव सामान्यतः कार्यकर्ता की योग्यता और समस्या के निदान पर निर्भर करता है। उपचार की क्रिया को और अधिक प्रभावशली बनाने के लिए निम्नलिखित अतिरिक्त उपायों का भी इसके अन्तर्गत प्रयोग किया जाता है–

संयुक्त साक्षात्कार प्रणाली– कभी–कभी कार्यकर्ता को एक ही साथ कई लोगों से साक्षात्कार करना पड़ता है। सामान्यतः पारिवारिक समस्याओं से ग्रस्त सेवार्थियों के साथ इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के द्वार खास कर समस्या के अध्ययन और निदान में विशेष मदद मिलती है। एक साथ ही समस्या से संबंधित सभी लोगों से साक्षात्कार किया जाता है तो सबकी भावनाओं को समझने में तो मदद लिती ही है साथ ही साथ अन्वेषण की प्रविधि के प्रयोग के द्वारा सभी लोगों को यह अभास हो जाता है कि समस्या की उत्पत्ति और सामाधान में उनका क्या योगदान है। इस प्रकार के साक्षात्कारों में कार्यकर्ता व्यवहार के कारणों की अपेक्षा प्रभाव पर अधिक जोर डालतो है। सामान्यतः कार्यकर्ता ऐसी समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिनका सम्बन्ध अनेक व्यकितयों से रहता है। पर इस प्रकार के साक्षात्कारों में कार्यकर्ता को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए और इस बात का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए कि कोई एक ही व्यक्ति अन्य दूसरे व्यक्तियों के ऊपर अपना प्रभाव न जमा ले।

सलाह– कार्यकर्ता को कभी–कभी अपने विभाग के लोगों से अथवा समस्या से संबंधित दूसरे विषय के विशेषज्ञों को सलाह का भी उपयाग अपने कार्य के लिए करना पडद्यता है। सामान्यतः कार्यकर्ता को संस्था में अपने सहयोगी कार्यकर्ताओं से ही सलाह लेनी चाहिए, अधिकारियों से नहीं। सलाह पारस्परिक विचार विनिमय की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कार्यकर्ता विषय से संबंधित अनुभव, ज्ञान और भावनाओं को सलाह देने वाले व्यक्ति से बतलाता है और सलाह देने वाला व्यक्ति अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा निदान और उपचार कार्य को और भी प्रभावशाली बनाने में तथा असंगत शंकाओं के समाधन में विशेष मददगार होता है। इस क्रिया के द्वारा जो सुझाव कार्यकर्ता को दिये जामते हैं उनका उपयोग करना या न करना कार्यकर्ता की इच्छा पर निर्भर है।

सहयोग– इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दो या दो से अधिक व्यावसायिक कार्यकर्ता जिम्मेदारीपूर्वक एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए किसी व्यक्ति या परिवार की समस्याओं का उपचार करते हैं। पारिवारिक समस्याओं में सामन्यतः यह बात पायी जाती है, ऐसी दशा में कभी–कभी प्रत्येक सेवार्थी के साथ अलग–अलग कार्यकर्ता कार्य करते हैं और दोनों कार्यकर्ता समय–समय पर एक दूसरे से मिल कर सेवार्थियों से संबंधित अनुभवों और भावनाओं को एक दूसरे सक अवगत कराते रहते हैं। फलस्वरूप अध्कि प्रभावशाली ढंग से उचार की योजना और उसका कार्यान्वयन हो पाता है। इस प्रकार के कार्य में विषयगत दृष्टिकोण और आत्मानुशासन की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है। कार्यकर्ताओं से यह आशा की जाती है कि वे एक दूसरे से पूर्ण सहयोग के साथ काम करते हुए स्पष्ट और ईमानदारी पूर्वक अपने विचारों का आदान–प्रदान करेंगे और आपसी मतभेद को कम करते हुए अधिक प्रभावशाली ढंग से समस्या के समाधान का प्रयास करेंगे।



वैयक्तिक सेवा कार्य की प्रविधियाँ

दक्षता (Skills)

सम्बन्ध स्थापन की दक्षता :– वैयक्तिक समाज कार्य के अन्तर्गत उपचार के प्रक्रिया के दैरान सेवार्थी और कार्यकर्त्ता के बीच अच्छे सम्बन्धों का होना ही बहुत महत्वपूर्ण है। अच्छे सम्बन्धों से ही अच्छे वातावरण का निर्माण होता है, आपस में विश्वास उत्पन्न होता है, सेवार्थी के अन्दर आत्मबल पैदा होता है और वे एक–दूसरे को सम्मान प्रदान करते हैं। अच्छे सम्बन्धों के होने से ही सेवार्थी सामाजिक कार्यकर्त्ता से किसी भी सहायता प्राप्त करने में सरलता महसूस करता है। अच्छी निपुणता का अभिप्राय यह है कि वह सेवार्थी की समस्याओं का समाधान करने, उसके विचारों व मूल्यों को सम्मान देने, एवं समस्या समाधान के प्रत्येक स्तर में सेवार्थी का सहयोग प्राप्त करे।

समस्या के कारणो का गहराई से अन्वेषण :– सामाजिक कार्यकर्त्ता के अन्दर यह दक्षता होनी चाहिए कि वह समस्या के मूल कारणो को समझ सके। उसके अन्दर यह भी दक्षता होनी चाहिए कि सेवार्थी को इस बात के लिए मानसिक रूप से तैयार कर सके कि वह अपनी समस्या को कार्यकर्त्ता के समक्ष अच्छे ढंग से कह सके और समस्या के मूल कारणो की पहचान करने में सक्षम हो सके। सामाजिक कार्यकर्त्ता के अन्दर विभिन्न सामाजिक दशाओं मे मानव व्यवहारों को समझने की क्षमता हो एवं साथ ही सेवार्थी के साथ तदानुभूति की भी दक्षता हो।

संसाधनो की उपयोग की दक्षताः– सेवार्थी की समस्या के समाधान के समय कार्यकर्त्ता को विभिन्न प्रकार के भौतिक संसाधनों एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है। सामाजिक कार्यकर्त्ता के अन्दर यह दक्षता/निपुणता होनी चाहिए कि वह सेवार्थी के समस्या समाधान के लिए उसके मित्र मंडली में उपलब्ध संसाधनो या उसके सगे सम्बन्धियों या समुदाय के अन्तर्गत उपलब्ध संसाधनो का उपयोग कर सके। इन संसाधनो का उपयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सेवार्थी के आत्म प्रतिष्ठा को ठेस न पहुँचाये। विशेष रूप से भारतीय परिवेश में कार्य करते समय इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

समस्या समाधान के विकल्पों की खोज :– सेवार्थी की समस्या के समाधान के समय अच्छे सम्बन्धों की स्थापना, समस्याओं का अन्वेषण, संसाधनो की खोज इत्यादि करने के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि समस्या समाधान के विभिन्न विकल्पों की गहराई से जाँच पडताल कर ली जाए। समस्या समाधान के विकल्पों को निश्चित करते समय उसके लाभ–हानि, प्रभाव–दुष्प्रभाव पर विचार किया जाना आवश्यक है। कौन् सा निर्णय किस परिस्थिति में सेवार्थी के ऊपर किस प्रकार का प्रभाव डालेगा इस पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए साथ ही विभिन्न विकल्पों का

सुझाव देते समय सेवार्थी की आन्तरिक क्षमताओं, सामाजिक स्तर, संसाधनो एवं सामुदायिक मूल्य मान्यताओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। इस प्रकार की दक्षता सामाजिक कार्यकर्त्ता के अन्दर उत्पन्न होना आवश्यक है।

हमने जाना

- वैयक्तिक कार्य के द्वारा यद्यपि सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्रान्ति तथा पुनर्निर्माण का कार्य तो नहीं किया जाता पर वातावरण से पड़ने वाले दबाओं में कुछ कमी करके तथा उपचारात्मक सेवाओं द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उसे सामाजिक परिस्थितियों में समायोजन करने के योग्य तो बनया ही जाता है।

- सामाजिक न्याय के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विचार, क्रिया और उन्नति करने के समान अवसर की उपलब्धि पर भी वैयक्तिक कार्यकर्ता विश्वास करता है। साथ ही साथ व्यक्ति और समाज की आत्म निर्भरता पर भी विश्वास किया जाता है।

- व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर हर व्यक्ति की समस्याओं के कारण भी अलग--अलग होते हैं।

- यदि सेवार्थी का कोई व्यवहार स्वीकार करने योग्य नहीं हो तो भी कार्यकर्ता उक्त व्यवहार के पीछे छिपी हुई भावनाओं का अन्वेषण करता है और आवश्यकतानुसार स्वीकृति प्रदान करता है।

- समस्या समाधान के विकल्पों को निश्चित करते समय उसके लाभ--हानि, प्रभाव--दुष्प्रभाव पर विचार किया जाना आवश्यक है। कौन सा निर्णय किस परिस्थिति में सेवार्थी के ऊपर किस प्रकार का प्रभाव डालेगा इस पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए साथ ही विभिन्न विकल्पों का सुझाव देते समय सेवार्थी की आन्तरिक क्षमताओं, सामाजिक स्तर, संसाधनो एवं सामुदायिक मूल्य मान्यताओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। इस प्रकार की दक्षता सामाजिक कार्यकर्त्ता के अन्दर उत्पन्न होना आवश्यक है।

कठिन शब्दों के अर्थ

- **सलाह**– कार्यकर्ता को कभी–कभी अपने विभाग के लोगों से अथवा समस्या से संबंधित दूसरे विषय के विशेषज्ञों को सलाह का भी उपयाग अपने कार्य के लिए करना पडद्यता है। सामान्यतः कार्यकर्ता को संस्था में अपने सहयोगी कार्यकर्ताओं से ही सलाह लेनी चाहिए, अधिकारियों से नहीं।

- **प्राख्या**– इसके द्वारा सेवार्थी को अर्धचेतन स्तर के नजदीक की समस्याओं और उनके पीछे छिपे कारणों, व्यवहारों तथा भावनाओं की जानकारी करायी जाती है।

- **स्पष्टीकरण**– इस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी की गलत धारणाओं को दूर किया जाता है और उसे नवीन बातों की जानकारी करायी जाती है। साथ ही साथ उसकी अहमशक्ति को इस तरह बढ़ा दिया जाता है कि वह विभिन्न परिस्थितियों को अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझने लगता है ओर उनके अनुसार अपने व्यवहारों में भी परिवर्तन कर सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

- वैयक्तिक सेवा कार्य के आधार पर पांच केस स्टडीज लिखें।
- अपने अध्ययन क्षेत्र में ऐसे पांच बच्चों या व्यक्तियों की सूची बनाएं जिसका वैयक्तिक अध्ययन किया जा सके।
- अपने अध्ययन क्षेत्र में विद्यमान असमायोजन, पारिवारिक कलह, सामुदायिक तनाव व संघर्ष, व्यक्तिगत असमायोजन इत्यादि समस्याओं की सूची बनायें।
- उपरोक्त में से कौन–कौन सी समस्याएं ऐसी हैं जिनका समाधान आप स्थानीय स्तर पर कर सकते हैं।

आओ करके देखें

- किसी असमायोजित बच्चे का अध्ययन करें।
- किसी असमायोजित पति–पत्नि का अध्ययन करें।
- किसी असमायोजित पिता–पुत्र के असम्बन्धों का अध्ययन करें।
- स्कूल से पढाई को छोड़कर भागने वाले बच्चों का वैयक्तिक अध्ययन करें।
- असमायोजन के कारण टूटते संयुक्त परिवारों का अध्ययन करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

1. समाज कार्य परिचय – प्रो0 राजाराम शास्त्री।

2. समाज कार्य का इतिहास एवं दर्शन – प्रो0 मिर्जा रफुद्दीन अहमद।

3. समाज कार्य – डॉ. जी. आर. मदन।

4. सामाजिक कार्य का परिचय – डॉ. धर्मपाल चौधरी।

8.3 : सामूहिक समाज कार्य (Social Work with Groups – Group Work)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

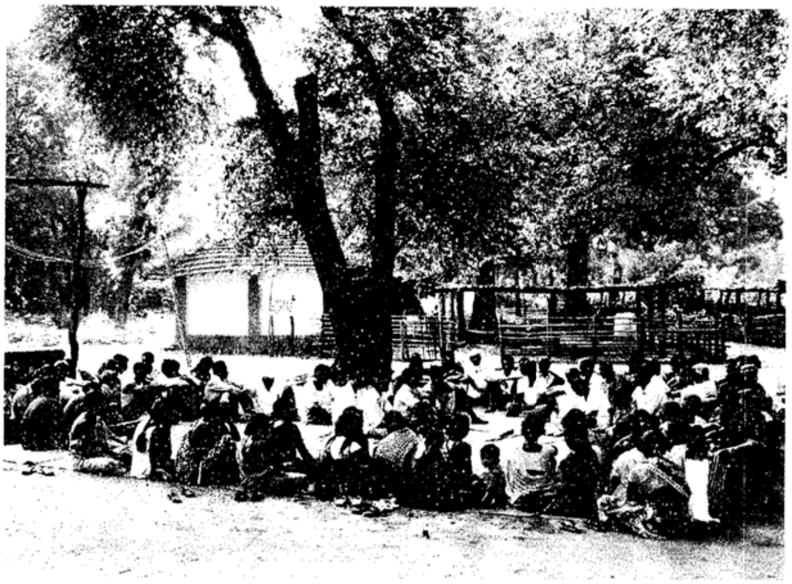
- सामूहिक समाज कार्य की अवधारणा और स्वरूप।
- सामूहिक समाज कार्य के सिद्धान्त।
- सामूहिक समाज कार्य विधि के प्रभावी उपयोग हेतु दक्षताएँ।

सामूहिक समाज कार्य

सामूहिक समाज कार्य, समाज–कार्य की एक पद्धति है। इसमें समूह ही सेवार्थी हुआ करता है। समाज–कार्य की अन्य पद्धतियों की भाँति इस पद्धति के भी सफल कार्यान्वयन के लिए अभिकरण(संगठन, संस्था या एजेन्सी) के माध्यम से इसका प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इस पद्धति में प्रधानतः पूरे समूह की स्थिति और विकास पर ध्यान रखा जाता है किन्तु यह स्वभावतः तभी सम्भव होता है जब उसमें शामिल व्यक्ति की स्थिति और विकास पर भी ध्यान दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि सामूहिक कार्य में व्यक्ति और समूह दोनों का ध्यान रखा जाता है। चेष्टा की जाती है कि इन दोनों का पारस्परिक सहयोग हो। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य जो कुछ है वह समाज का परिणाम है। वह जो कुछ हो सकता है समाज के कारण ही हो सकता है। व्यक्ति को समाज अथवा समाज के विभिन्न समूहों मे रहना है इसलिए उसके इनसे समुचित सामंजस्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें इनमें रहने के तौर–तरीके विकसित हों। जरूरत की पूर्ति के साधन भी उपलब्ध हों। समूह में रहकर ही व्यक्ति सामूहिक जीवन यापन की कला को सीखता है। उपरोक्त मान्यताओं पर ही सामूहिक कार्य आधारित है। व्यक्ति को समूह से होने वाला लाभ भली–भाँति हो इसके लिए यह जरूरी होता है कि कोई कुशल व्यक्ति इन दोनों के बीच सेतू के रूप में कार्यरत हों।

समाज–कार्य के सिद्धान्त और सामूहिक कार्य में उनका व्यावहारिक उपयोग

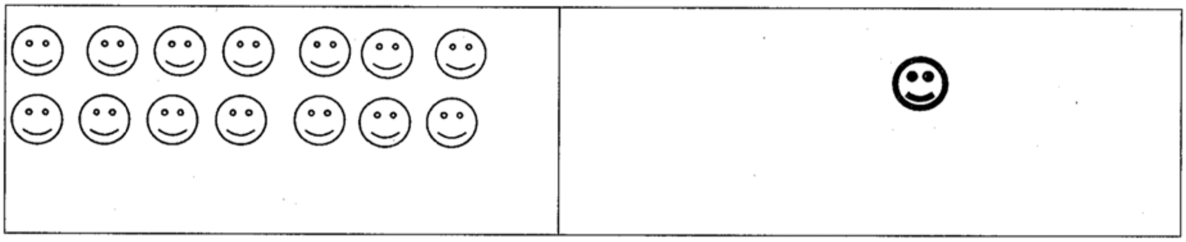
समाज कार्य के क्षेत्र में प्रचलित कुछ ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्त हैं जिनके प्रभावी उपयोग से समाज कार्य कार्यकर्ता समूह की स्वीकृति और सहभागिता प्राप्त कर सकता है। व्यावहारिक क्षेत्र में इन सिद्धान्तों का उपयोग लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की व्याख्या इस दृष्टि से कर रहें हैं कि आप इन्हें आत्मसात कर समाज कार्य के व्यावहारिक कार्यों में उपयोग कर सकें।



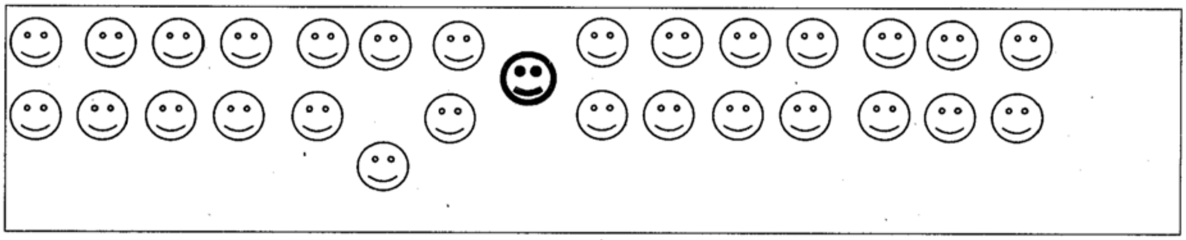
जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त :– समूह निर्माण के प्रारम्भिक चरण से लेकर समूह की समाप्ति (यदि कभी आवश्यक हो तो) तक होने वाली समस्त क्रियाएँ स्वप्रेरित हों अर्थात् उसके निर्माण की आवश्यकता का एहसास, निर्माण का ढंग, कार्य पद्धति एवं कार्यक्रम का निर्धारण, संचालन एवं नेतृत्व, लक्ष्य या उद्देश्य का निर्धारण एवं साधनों का जुटाव तथा उनके उपयोग की विधि तथा निर्णय की प्रक्रिया इत्यादि स्वयं समूह के सदस्यों द्वारा ही निश्चित की जानी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि उनकी भावनाएँ एवं इच्छाएँ कुछ और हों और अभिकरण या सामूहिक कार्यकर्त्ता उनका कुछ और ही ढंग से उपयोग करें। सामूहिक कार्यकर्त्ता को इन तमाम अवसरों पर मात्र उनकी सोई हुई शक्तियों को जागृत करके उन्हें सकारात्मक दिशा प्रदान करने का ही कार्य करना चाहिए। इसमें सामाजिक साधनों के ज्ञान का बोध कराना भी सम्मिलित है।



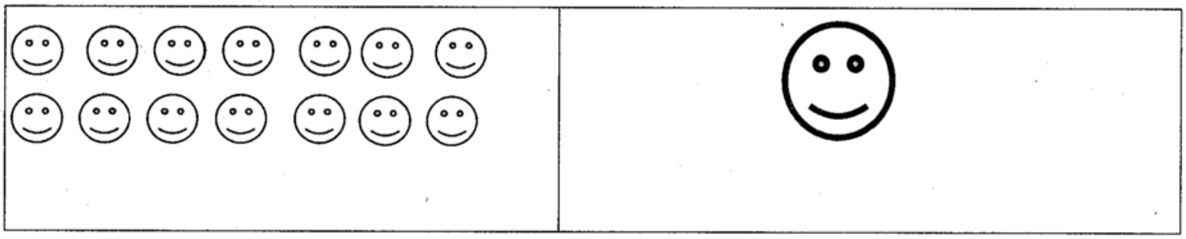
चित्र के पहली स्थिति से स्पष्ट है कि समूह से अलग रहने पर व्यक्ति का अस्तित्व छोटा होता है। यदि हमें बड़ा बनना है तो या तो दूसरी स्थिति के अनुसार किसी बड़े समूह के साथ जुड़ जाना होगा अथवा उस समूह से भी बड़ा समूह बनाना होगा।



पहली स्थिति – अलग रहने पर



दूसरी स्थिति – समाज से जुड़ने पर



तीसरी स्थिति – स्वयं की स्थिति श्रेष्ठ बना लेना

उपरोक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि बड़े बनने के लिये बड़ा समूह या नेटवर्क होना आवश्यक है।

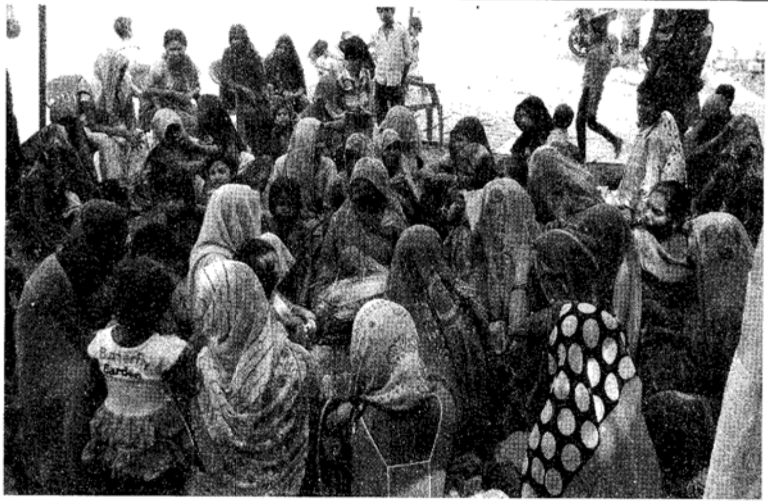
जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी है। समूह अथवा समूह के सदस्य स्वयं से, स्वयं के बारे में और स्वयं के लिए जो कुछ भी, जब कभी भी करें वह इस प्रकार होना चाहिए कि उनमें से प्रत्येक की भावना को कम से कम आघात पहुँचाते हुए तथा उन्नत समाजगत स्वीकृत मूल्यों यथा प्रेम, सौहार्द्र, शालीनता, सज्जनता से युक्त होकर करें अर्थात् आपस में शिष्ट आचार–विचार के माध्यम से प्रकृतिगत कुप्रवृत्तियों के दमन और सत्वृत्तियों के विकास द्वारा करें। जब कभी भी इस अपेक्षित स्थिति में कमजोरी के लक्षण दिखें तो सामूहिक कार्यकर्त्ता को भी कथित जनतांत्रिक तरीकों से ही समग्र सेवार्थी अथवा उसके अवयव सदस्यों के ज्ञान धरातल को उन्नत कर या परिवेशगत परिमार्जन द्वारा

अन्तःक्रियाओं की स्थिति एवं स्वरूप को ऐसी दिशा देनी चाहिए जो अधिकाधिक हितकारी हो। जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से एक फायदा तो यह होता है कि समूह अथवा समूह के सदस्यों की अनेक छिपी क्षमताएँ सामने आती हैं और अन्य क्षमताएँ भी विकसित होकर उनके व्यक्तित्व गठन एवं निर्माण में सहायक बनती हैं तथा आज के उन्नत समाज की कल्पना को साकार होने के आधार को बल मिलता है अर्थात् चूँकि व्यापक रामाज विभिन्न व्यक्तियों और समूहों का ही समुच्चय होता है इसलिए यदि इनका गठन एवं निर्माण जनतंत्रीकृत है तो समाज भी जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित और इनके मूल्यों से अभिभूत होगा जो कि आज सारे विश्व में एक आधारभूत मानवीय आवश्यकता के रूप में स्वीकृत है।



Principle of Democratic Decision

नियोजन :– समूह का निर्माण सदैव सुनियोजित होना चाहिए। स्वाभाविक है कि यदि बिना किसी नियोजन के समूह का निर्माण किया जायगा तो वह अपने लक्ष्यों को शायद ही प्राप्त कर सके। नियोजन में जनशक्ति, साधन शक्ति, माध्यम, प्रक्रिया और ध्येय सभी सम्मिलित होते हैं। इन तमाम का यदि अच्छा उपयोग करना है तो इन सबको अच्छी प्रकार एक दूसरे के पूरक के रूप में संगठित करना होता है। यदि इनका संगठन न किया गया तो एक तो ये स्वयं ही अलग–अलग अनुपयोगी सिद्ध होते हैं, दूसरे इनके मिलन से एक जो अन्य नवशक्ति उत्पन्न होने की संभावना होती है व भी नष्ट हो जाती है। नियोजन होने से ही ठीक–ठीक यह जाना जा सकता है कि कौन–सी ताकतों का कहाँ तक और किस रूप में इस्तेमाल हो सकता है और तदनुसार ही ध्येय और लक्ष्य होने से सामूहिक कार्य अपनी अभीष्ट प्राप्ति में समर्थ हो सकता है। समूह अथवा इसके कार्य के सम्बन्ध में नियोजन के समय समूहगत, अभिकरणगत तथा समाज में उपलब्ध अन्य साधनों को भी ध्यान में रखना चाहिए। साधनों और क्षमताओं के अलावा सामजिक मूल्यों, राष्ट्रीयता और राज्य के संदर्भों को भी अछूता नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि इन सबका भी काफी प्रभाव हुआ करता है।



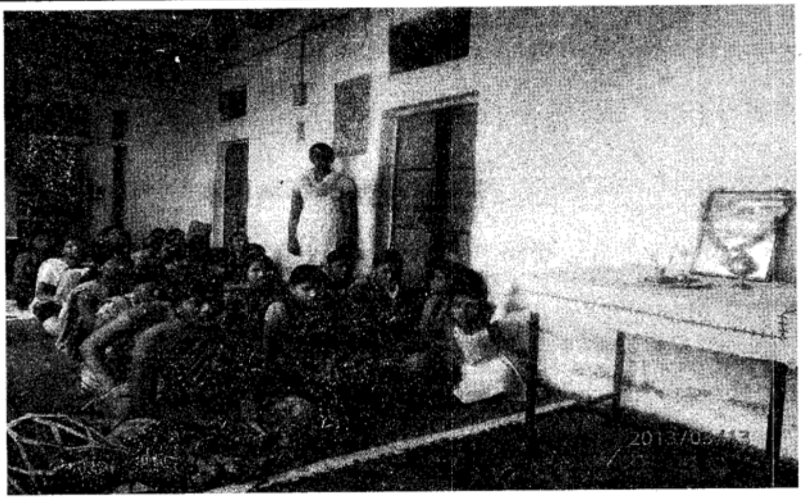
Principle of Planning

लचीले संगठन का सिद्धान्त :—यदि समूह के सदस्यों के कार्य का संगठन पर्याप्त लोच रखता हो तो समूह का कार्य अच्छी तरह चलता है। इसका मतलब यह है कि सबको ठीक—ठीक यह मालूम होना चाहिए कि किसका क्या कार्य है, किन्तु यह ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसमें कोई तबदीली की ही न जा सके। चूँकि व्यक्ति की सामर्थ्य और समूह की आवश्यकताओं में परिवर्तन आने स्वाभाविक होते हैं इसलिए कार्य का दायित्व या उनकी संगठनात्मक संरचना भी नमनीय होनी चाहिए जिससे कि आवश्यकतानुसार सम्भव परिवर्तन द्वारा व्यक्ति और समूह एक दूसरे से अधिकाधिक समंजित रह सकें। ऐसा न होने से बहुधा समूह या उसके सदस्यों में टूट की संभावना बढ़ती है और सामूहिक कार्य पद्धति अपने लक्ष्य के मार्ग से विरत हो सकती है।



Flexibility of thoughts in group work

साधनों के उपयोग :– समूहों के कार्य क्षेत्र में कुछ ऐसे साधन प्रायः उपलब्ध रहते हैं जिनका कि उपयोग समूह अपने हित में कर सकता है चाहे वे साधन अभिकरण में हों अथवा पास–पड़ोस, समुदाय या समाज में हों। इन साधनों में उपकरण, स्थान, भवन तथा सामाजिक संस्थाएँ या व्यक्ति इत्यादि सम्मिलित होते हैं। समूह को और कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह इनका लाभ उठाए और समूह अपना हित साधे। प्रायः इन साधनों का उपयोग इसलिए भी सहज सुलभ हो सकता है क्योंकि समूह का अस्तित्व उसी परिस्थिति, समुदाय या समाज की जरूरतों के एहसास के ही फलस्वरूप होता है। जब अपनी ही जरूरत से हमने किसी कार्य को जन्म दिया है तो उसको संबल देना भी हमारा स्वाभाविक कर्त्तव्य होता है। यदि इसके विपरीत समूह ऐसा हो जो कि उस परिस्थिति का प्रतिफल न हो तो भी ऐसी संभावनाएँ तो उन परिस्थितियों में निहित होती ही हैं जिनका कि उपयोग किया जा सकता है। चेष्टा करने पर हर जगह कुछ न कुछ व्यक्ति अपने मतलब के मिल ही जाते हैं तथा कतिपय भौतिक साधन भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। ऐसा इसलिए कि उपसंस्कृतिगत (सभ्यता समेत) वैभिन्न्य होने पर भी व्यापक मानवीय संस्कृति की मूल प्रवृत्तियाँ तो मोटे तौर पर एक–सी ही हुआ करती हैं।



Principle of Resource Utilization

मूल्यांकन का सिद्धान्तः– सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह समूह की गतिविधियों का बीच–बीच में आवश्यकतानुसार मूल्यांकन करता रहे। इस प्रकार किये गये मूल्यांकन से समूह की शक्तियों का समुचित नियोजन, नियंत्रण और आवश्यक परिमार्जन करने में सुविधा होती है और सामूहिक कार्यकर्त्ता को अपने कृत्यों को समझने और सुधारने का अवसर मिलता है। यदि बीच–बीच में मूल्यांकन न किया जाय तो संभावना रहती है कि लक्ष्य से विरत

होकर या समूह के सदस्यों, भौतिक साधनों या सामूहिक कार्यकर्त्ता की सेवाओं का दुरुपयोग हो। मूल्यांकन से एक लाभ और भी होता है कि समूह के सदस्यों और सामूहिक कार्यकर्त्ता को स्वयं को समझने की क्षमता भी बढ़ती जाती है। इस **मूल्यांकन के सिद्धान्त** के साथ ही एक सिद्धान्त और जुड़ा हुआ है कि समूह की क्षमता के ह्रास–विकास के साथ ही साथ उसके सदस्यों की इच्छाओं, अनुभवों और माद्दा का भी विकास होता है। जैसे–जैसे सम्पूर्ण समूह प्रगति करता है उसी क्रम से उसके अवयव सदस्यों में भी प्रगति आती है या आनी चाहिए। यदि स्थिति इससे इतर हो तो इस सिद्धान्त के अनुसार सामूहिक कार्य का सम्पादन अनुपयुक्त है और सामूहिक कार्यकर्त्ता को इस पर ध्यान देना चाहिए तथा इसके कारणों की खोजबीन करके ऐसी स्थिति लानी चाहिए कि इन दोनों की प्रगति की दिशा और गति एक समान हों।

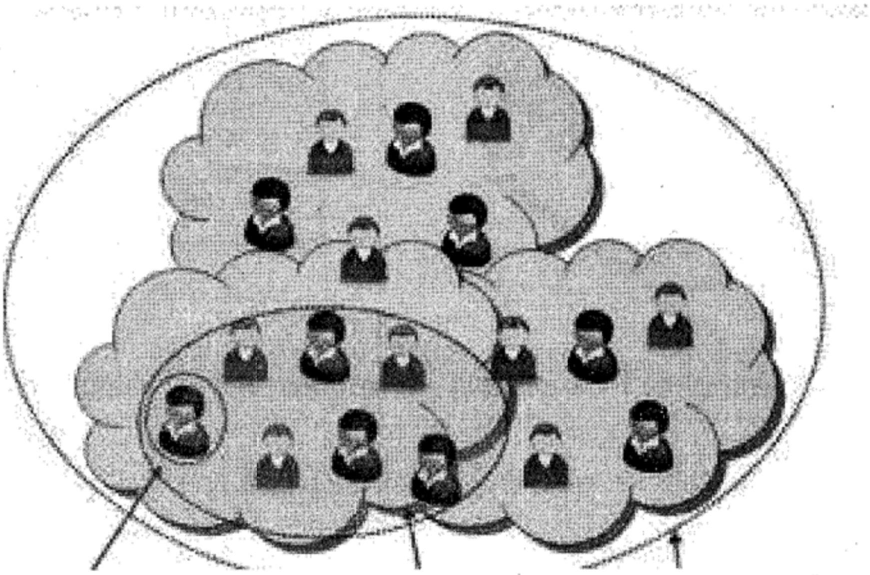


Guided group Interaction

निर्देशित सामूहिक अन्तःक्रिया के सिद्धान्त :– समस्त सामूहिक कार्य की उपलब्धियाँ समूह के सदस्यों के बीच तथा समूह के सामूहिक कार्यकर्त्ता के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं पर ही निर्भर करती हैं। इन अन्तःक्रियाओं का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समूह के सदस्य तथा सामूहिक कार्यकर्त्ता की इच्छाएँ, क्षमताएँ तथा कार्य के ढंग इत्यादि किस प्रकार के हैं। जहाँ कहीं भी दो पक्ष विद्यमान होते हैं अन्तःक्रियाएँ होती हैं। यदि ये अनिर्देशित हों अर्थात् इनकी दिशा या तरीके तय न हों या उन्हें बीच–बीच में सँवारा न जाय तो दोनों पक्षों की क्षमताओं का एक तो हितकारी उपयोग कठिन होता है दूसरे इसकी भी संभावना रहती है कि वे पक्ष अहितकारी अन्तःक्रियाएँ कर बैठें और यदि समूह में यह स्थिति काफी मात्रा में विद्यमान हो जाय तो सारा समूह या तो विश्रृंखलित हो सकता है या अपने लक्ष्य को कठिनाई से पा सकता है या उसकी सारी सृजनात्मक शक्तियाँ नष्ट हो सकती हैं। प्रायः इस बात की बहुत

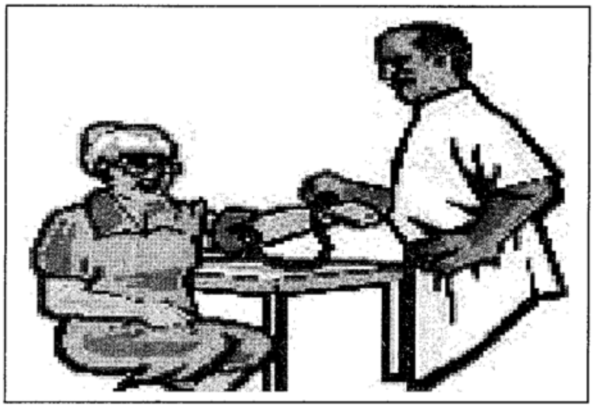
संभावना होती है कि यदि समूह को स्वयं ही कार्यरत रहने दिया जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है इसलिए यह जरूरी समझा जा सकता है कि सामूहिक कार्यकर्त्ता समूह की समस्त अन्तःक्रियाओं को उचित तरीके और दिशा में निर्देशित करता रहे। यहाँ ऐसे समूह को नहीं सम्मिलित किया जा रहा है जो कि अत्यन्त विकसित हों अथवा जिनमें कि अन्तःक्रियाओं के निर्देशन की बहुत ही कम जरूरत हो। चूँकि व्यक्ति–व्यक्ति में भेद होते ही हैं और उनके भेद से अन्तःक्रियाएँ भिन्न–भिन्न दिशाओं में बहक सकती हैं इसलिए उनको एक सुपथगामी बनाने के लिए तथा उनकी हर गतियों को अधिक–से–अधिक पारस्परिक अनुपूरक उपयोग करने के लिए कार्यकर्त्ता द्वारा अन्तःक्रियाओं का निर्देशन बहुत ही कौशल से किया जाना चाहिए। अन्तःनिर्धारण, कार्यविधि का निश्चयन, मूल्यांकन तथा सक्रियता आदि का भरपूर लाभकारी उपयोग हो सके; क्योंकि सामूहिक कार्य के हर स्तर पर अन्तःक्रियाओं का जटिल जाल बिछा रहता है। अन्तःक्रियाओं की गति की तीव्रता और मन्दता को भी सामूहिक कार्यकर्त्ता को निर्देशित करना पड़ता है। चूँकि अन्तःक्रियाओं की उपस्थिति सतत् या निरन्तर है इसलिए सारा सामूहिक कार्य इससे आवेष्टित रहता है और इसी से अन्तःक्रियाओं पर ही सारे सामूहिक कार्य का दारोमदार होता है। यही कारण है कि इसके समुचित निर्देशन की सदा आवश्यकता रहती है।

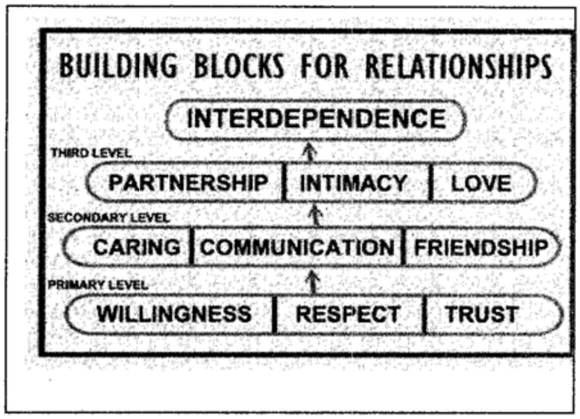
वैयक्तीकरण का सिद्धान्त :– समस्या के व्यक्तिशः कारणों की जानकारी प्राप्त करके उसके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक–पृथक प्रयास करने की प्रक्रिया को वैयक्तीकरण कहा जाता है। बहुधा हर समूह में ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित रहते हैं जो कि या तो समूह से पूरी तौर पर सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों के साथ सामूहिक कार्यकर्त्ता को वैयक्तीकरण के सिद्धान्त का प्रयोग सतत् करते रहना पड़ता है। इसके अलावा चूँकि सदस्य विभिन्न सामर्थ्य और इच्छाओं से समूह में सम्मिलित होते हैं और समूह के लाभों को भिन्न–भिन्न ढंगों से ग्रहण करते है। इसलिए भी इस सिद्धान्त का प्रयोग प्रायः सभी के साथ कमोबेश करते रहना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो सदस्यों की भिन्नता से जनित अन्तःक्रियाओं से सम्पूर्ण समूह की तमाम हरकतों के संगठन के स्वरूप में अनपेक्षित लक्षण या तत्त्व क्रियाशील हो सकते हैं और इससे सामूहिक कार्य का अभीष्ट नष्ट हो सकता है। सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह इस प्रकार से हर सदस्य के साथ इस सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए उस सदस्य में निहित संगठन के तत्त्वों को बलशाली बनाता रहे। विघटनकारी तत्त्वों में न्यूनता लाता रहे।



Individualization

सोद्देश्य सम्बन्ध का सिद्धान्त :— सामूहिक कार्यकर्त्ता का अपने समूह के सदस्यों के साथ जो सम्बन्ध हो वह निश्चित उद्देश्य सहित हो और इसकी स्वीकृति सहजता से सेवार्थी से मिली हो। वे ऐसा समझें कि सामूहिक कार्यकर्त्ता हमारी मदद के लिए है और हम सबका उसके ऊपर पूर्ण विश्वास है तथा हमारा उसके साथ जो सम्बन्ध है वह अभिकरण के हित से तालमेल रखता है। ऐसी भावना की उपस्थिति से जनतांत्रिक मूल्यों के अनुसार कार्य करने की संभावना बलवती होती है; सबका एक दूसरे पर विश्वास होता है; सब अच्छे प्रकार से एक दूसरे के आचार–विचार को जान–बता पाते हैं और उनके संबंध भी प्रगाढ़तर होते जाते हैं। इससे सामूहिक संगठन और सामूहिक कार्य में मदद मिलती है। इस सम्बन्ध के गुण और शक्ति के स्वरूप के ही अनुसार समूह लाभान्वित हो सकता है। यदि कार्यकर्त्ता और समूह का एक दूसरे में विश्वास नहीं है, वे एक दूसरे से खिंचे–खिंचे रहते हैं या उनके सम्बन्धों में कटुता है तो जाहिर है कि वे अपने धर्म पालन में असमर्थ होंगे और इससे सामूहिक कार्य ठीक से नहीं हो पायेगा। सामूहिक कार्य के अन्तर्गत यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि सामूहिक कार्य के दरम्यान सभी सिद्धान्तों के समन्वित प्रभाव पर ध्यान रखना चाहिए, न कि अलग–अलग।





समाज–कार्य की प्रविधियों का सामूहिक कार्य में व्यवहार

सामूहिक कार्य में समूह निर्माण से लेकर समूह क़ी आवश्यकता के अन्त तक अनेक ऐसे अवसर आते रहते हैं जबकि सामूहिक कार्यकर्त्ता को समाज–कार्य की अनेक प्रविधियों की मदद से अपना कार्य–सम्पादन करना पड़ता है। जितनी कुशलता से उनका व्यवहार किया जाता है उतना ही अधिक ये फलदायी होती है और समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास और तदनन्तर समाज का सुगठन होता है। सारे कार्य के दरम्यान स्वाभाविक तौर पर ऐसे अवसर आते हैं जबकि इन **प्रविधियों** का व्यवहार करना जरूरी होता है। अनेक ऐसी बातें हो सकती हैं जो कि समूह के सदस्यों को न मालूम हों; अनेक ऐसी बातें हो सकती हैं जो कि समूह के सदस्यों को ठीक–ठीक समझ में न आ पाती हों; बहुत से ऐसे अवसर हो सकते हैं जबकि समूह के सदस्य अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में कठिनाई महसूस करते हों या उनकी मानसिक या वैचारिक दशा ऐसी हो कि कार्यकर्त्ता से संबल की आवश्यकता हो। अभिकरण या बाह्य परिवेश में ऐसे साधन हो सकते है, जिनका कि या तो समूह उपयोग न कर पा रहा हो या वह उसके उपयोग को न समझ पा रहा हो। अनेक ऐसी क्षमताएँ हुआ करती हैं जो कि अन्तर्निहित होती हैं और स्पष्टतः जानी समझी नहीं जा सकती और इसलिए एक तरफ उनका उपयोग नहीं हो पाता दूसरे उनका उपयुक्त तौर पर व्यवहारों में प्रतिफलन नहीं हो पाता है। ये ही कतिपय ऐसी प्रमुख स्थितियाँ हैं जिनमें कि प्रविधियों की मदद से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

सम्बन्ध की प्रविधिः– सम्बन्ध ही सभी सहायताओं का मूलाधार होता है। यदि समूह और कार्यकर्त्ता के बीच का सम्बन्ध अच्छा है तभी यह सम्भव है कि वे एक दूसरे का भरपूर लाभ उठा सकें अन्यथा नहीं। जब सम्बन्ध ही विश्वास योग्य, मृदु और सहायक प्रकृति का न होगा तो सदस्य एक दूसरे से समुचित विचार–विनिमय तथा आचार–संचार न कर सकेंगे और जब ऐसी स्थिति होगी तो समूह में बिखराव बढ़ेगा और समुचित कार्य सम्पादन में रुकावट आयेगी। इसलिए कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह समूह के सदस्यों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित और विकसित

करे जो कि उन दोनों में पारस्परिकता को बढ़ावा दे और हर मौके पर एक दूसरे की जनतांत्रिक तरीके से मदद करने की स्थिति को बल दे।

संबल की प्रविधिः– यह सामूहिक और वैयक्तिक दोनों स्तरों पर प्रयुक्त होती है। समूह में किसी भी कारण से जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि वह किसी प्रकार का निर्णय करने में वैचारिक या मानसिक स्तर पर कठिनाई महसूस करता है तो सामूहिक कार्यकर्त्ता ऐसे सुझाव या विचार व्यक्त करता है जिससे कि समूह को ढाढ़स बँधता है या उसे प्रोत्साहन मिलता है। समूह के सदस्यों के साथ क्षणिक अथवा लम्बी अवधि तक किये जाने वाले वैयक्तीकरण के दरम्यान भी सामूहिक कार्यकर्त्ता को संबल की प्रविधि का अनेक बार प्रयोग करना पड़ता है। सेवार्थी अपनी न्यून क्षमता के कारण अनेक बार अपने प्रयत्नों से विरत होने लगते हैं या उन्हें निराशा होती हैं या अपनी अभिव्यक्ति में हिचकिचाहट महसूस करते हैं। ये स्थितियाँ कई बार इसलिए भी आती हैं कि या तो समूह में कुछ लोग प्रतिभाशाली या प्रभावशाली होते हैं और उनमें नेतृत्व का गुण ज्यादा विकसित होता है जिसके फलस्वरूप या तो वे अन्य सदस्यों को पूरी तौर से अपनी बातों को व्यक्त करने का मौका नहीं देते या कुछ संकोची स्वभाव के कारण अपने को व्यक्त नहीं कर पातें। इसके अलावा अभिकरण के उद्देश्य, कार्यक्रम या साधन और प्रशासन इत्यादि इस प्रकार के नहीं होते कि उनसे समूह के सदस्यों को अपनी इच्छाओं और जरूरतों की पूर्ति का स्पष्ट अहसास हो सके। कभी–कभी समूह के कार्यक्रम के मूल्यांकन से भी ऐसी स्थिति नजर आने लगती है कि हिम्मत जबाब देने लगती हैं। बाह्य परिस्थितियों, यथा सामाजिक अपेक्षाओं, राजनीतिक प्रभावों या सांस्कृतिक पहलुओं में रद्दोबदल से भी समूह में या उसके सदस्यों में ऐसी मानसिक–वैचारिक स्थिति आ सकती है जिसमें कि उसे संबल की आवश्यकता हो अथवा इसकी अनुपस्थिति में बिखराव के तत्त्व प्रभावकारी होने लगें। संबल देने का कार्य कार्यकर्त्ता प्रायः सदस्यों द्वारा व्यक्त विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए उनमें थोड़ा–सा परिमार्जन करके करता है। कभी–कभी यदि विचार या भावनाएँ व्यक्त न हो पा रही हों तो भी समूह के व्यक्ति या व्यक्तियों की इस स्थिति को समझ कर ही वह उनको स्वयं ही व्यक्त करता है और उस पर उन सदस्यों के विचारों को आमंत्रित करते हुए उनको संबल देता है। मानसिक तौर पर संबल की प्राप्ति कई अन्य प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा भी हो जाती है। जब कभी किसी अवसर पर वस्तुस्थिति का ज्ञान कराया जाता है, विषय को सरलीकृत किया जाता है या व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं और इनका तालमेल व्यक्ति की भावनाओं को बल देने के साथ होता है तो भी संबल प्राप्त होता है और बीच–बीच में आवश्यकतानुरूप इन प्रविधियों के प्रयोग के माध्यम से भी सामूहिक कार्यकर्त्ता संबल देने का कार्य करता है।



सामूहिक कार्य के बीच ऐसे अवसर भी बार–बार आते हैं कि सदस्यों को **स्पष्टीकरण** की आवश्यकता होती है। अनेक सामाजिक अभिकरणों के उद्देश्य, कार्यक्रम तथा साधन इतने बहुरूपी होते हैं जिनसे कि समूह को या उसके सदस्यों को अनेक बार वे ठीक–ठीक समझ में नहीं आते। सदस्यों के बीच या सामूहिक कार्यकर्त्ता और सदस्यों के बीच अन्तःक्रिया के मध्य बहुत सी ऐसी स्थितियाँ आती हैं जिनमें कि स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। स्पष्टीकरण की आवश्यकता का एहसास इसलिए भी होता है कि कभी–कभी समूह के सदस्य भिन्न सामाजिक मूल्यों से आये हुए होते हैं या उनकी व्यक्तिगत भिन्नताएँ उनको स्वयं दूसरों के सम्मुख समुचित रूप में व्यक्त करने या दूसरों द्वारा भली प्रकार उनकी इच्छाओं एवं विचारों को समझने में अवरोधक होती हैं। समूह–निर्माण की आवश्यकतां को अच्छी प्रकार समझने, उसके कार्यक्रमों का सदस्यों के हित में होने और साधनों के उपयोग के तरीके और उपयोग के अवसरों को समझने की माद्दा भी समूह में समूह के विकास के स्तर से जुटी रहती है। यदि समूह बहुत विकसित नहीं है तो ऐसे अवसरों पर सम्यक् हितों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्टीकरण की आवश्यकता हुआ करती है। स्पष्टीकरण से समूह के व्यक्तियों की शक्तियाँ समन्वित होकर उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में आसानी से सक्रिय होती हैं। यदि सामूहिक कार्य में स्पष्टीकरण की प्रविधि का प्रयोग आवश्यकतानुसार न किया जाय तो हो सकता है कि सामूहिक कार्य दिशाहीन या व्यर्थ हो जाय। स्पष्टीकरण की प्रविधि के प्रयोग से संबल भी मिल सकता है और समूह के सदस्यों का स्व मजबूत और सामूहिक नैतिकता उन्नत हो सकती है।

खोज की प्रविधि :– इस प्रविधि के प्रयोग से एक ओर जहाँ समूह को इच्छित वस्तु या तथ्य की जानकारी हासिल होती है वहीं समूह के सदस्यों में तन्मयता और स्वचेष्टा विकसित होती है जिससे कि वैयक्तिक विकास और

तदनन्तर सामूहिक विकास होता है जो कि सामूहिक कार्य का अभीष्ट है। सामूहिक कार्यकर्त्ता समूह के सदस्यों को ऐसे प्रेरित करता है कि वे स्वयं ही इस खोज–कार्य में प्रवृत्त हों और इसके माध्यम से अपनी हितकारी शक्तियों का उपयोग कर सकें और वैयक्तिक विघटन के तत्वों से बचाव कर सकें। ऐसा होने से समूह पुष्ट होता है और सामूहिक कार्य की प्रगति काफी निर्बाध गति से होती है। कभी–कभी जब सदस्य मतिभ्रम में होते हैं तो सामूहिक कार्यकर्त्ता अनेक विकल्प उपस्थित कर उनमें से हितकारी तथ्य को खोजने के लिए उनको एक खास स्थिति प्रदान करता है।

व्याख्या की प्रविधि :– समूह के सदस्यों की धारणाओं, उनके ज्ञान, समाज में प्रचलित विचारों और मान्यताओं की कई ऐसी व्याख्याएँ करनी आवश्यक होती हैं जिनसे कि समूह को और उसके सदस्यों को अपने लाभ के लिए मदद मिल सके। बातों और विचारों के सामान्य अर्थों से इतर अर्थ भी हुआ करते हैं और सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि उनके हितकारी अर्थ को सम्मुख लाकर समूह की मदद करे। विचारों की व्याख्याओं से समूह की सूझ–बूझ और चिन्तन की शक्ति बढ़ती है और वे धीरे–धीरे इसके लिए अधिक समर्थ होते जाते हैं कि वे किन बातों का किस प्रकार अपने लिए अधिक–से–अधिक अच्छा उपयोग करें। व्याख्या के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विचार का मूल मन्तव्य नष्ट न हो या व्याख्याता में समूह की आस्था न घटे अथवा उसके समूह के साथ के सम्बन्ध का प्रभावकारी स्वरूप न बिगड़े। व्याख्याएँ बहुत ही समझदारी, नेक–नीयती और दीर्घकालीन प्रभाव को दृष्टि में रखकर की जानी चाहिए। व्याख्याएँ भी संबल देती हैं। व्याख्या की प्रविधि का प्रयोग करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि ये लादी न जा रही हों बल्कि समूह के सदस्यों से ही फूट रही हों अर्थात् सामूहिक कार्यकर्त्ता को केवल संकेत रूप में ही विकल्प सुझाने चाहिए और विकल्पों की तादात समूह के सदस्यों द्वारा ही बढ़ायी–घटायी जानी चाहिए या ऐसी स्थिति लानी चाहिए कि पूरे जनतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा और बढ़ावे के साथ समूह इस प्रविधि का व्यवहार करे।

सामूहिक कार्य में कभी–कभी ऐसी भी आवश्यकता होती है कि सम्पूर्ण समूह के साथ एक समान कार्य व्यवहार न किया जाय अर्थात् उनमें स्थिति विशेष के कारण उपसमूहों का निर्माण करके उसकी सहायता की जाती है। हो सकता है कि किसी समूह में ऐसे सदस्य सम्मिलित हों जिनकी क्षमताएँ भिन्न स्तर की हों और उनका उपयोग भिन्न स्तर पर ही किया जा सकता हो किन्तु उन सबका मूल अभीष्ट एक ही हो। ये भिन्नताएँ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांवेगिक इत्यादि किसी भी अथवा सम्मिलित कारण से हो सकती है। कभी–कभी लैंगिक या सामाजिक सांस्कृतिक विशेषता के कारण भी समूह के सदस्यों के स्तर भिन्न होते हैं। इन भिन्नताओं के कारण स्वाभाविक है कि उनकी आवश्यकताएँ और शक्तियाँ भिन्न हों। जब आवश्यकताएँ और शक्तियाँ भिन्न होंगी तो सबके साथ एक स्तर या तरीके से कार्य करना संभव नहीं होता है। समूह की तमाम ताकतों का भरपूर उपयोग करते हुए उसके हर स्तर के सदस्यों के

समुचित विकास को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि पूरे समूह को कई ऐसे **पक्षों या उपसमूहों** में विभाजित कर लिया जाय जिनमें कि सदस्यों की क्षमता और जरूरतें लगभग एक–सी हों। ऐसा करके ही हम सामूहिक कार्य को सार्थकता दे सकते हैं। ऐसा विभाजन कर लेने से कार्यकर्त्ता से लाभ उठाने की संभावना बढ़ती हैं और उनकी पारस्परिक अन्तःक्रियाएँ अधिक स्वस्थ दिशा में प्रवृत्त होती हैं अन्यथा बिखराव के तत्व बलशाली हो सकते हैं।

पक्षीकरण की प्रविधि :– आवश्यकतानुसार समूह में पक्ष–निर्माण और उनकी स्थिति विशेष के अनुसार उनकी सेवा–विशेष के कार्य को ही पक्षीकरण की प्रविधि के नाम से जाना जाता है। पक्षीकरण की आवश्यकता सामूहिक कार्य के प्रथम चरणों में अधिक हो सकती है किन्तु धीरे–धीरे सम्यक् समूह–विकास के साथ–साथ इसका ह्रास होना शुभ लक्षण है। पक्षीकरण से कभी–कभी समूह के अन्दर स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा और नेतृत्व शक्ति को भी बढ़ावा मिलता है। इसके कारण समूह के सदस्यों को ऐसी स्थिति उपलब्ध होती है कि वे अपनी विधायी क्षमताओं का ज्यादा से ज्यादा उपयोग कर सकें या किसी पक्ष विशेष के विकास की संभावना में कमी न आ पाए। सामूहिक कार्यकर्त्ता की चतुरता इस बात पर निर्भर है कि वह पक्षीकरण के बावजूद भी सारे समूह में मृदुता और एकात्मता बनाए रखे।

हमने जाना

- सीधे–सीधे कहा जा सकता है कि समूह में रहकर ही व्यक्ति सामूहिक जीवन यापन की कला को सीखता है।

- जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से एक फायदा तो यह होता है कि समूह अथवा समूह के सदस्यों की अनेक छिपी क्षमताएँ सामने आती हैं और अन्य दृश्य क्षमताएँ भी विकसित होकर उनके व्यक्तित्व गठन एवं निर्माण में सहायक बनती हैं।

- यदि सामूहिक कार्यकर्त्ता वैयक्तीकरण न करे और केवल सामूहिक अन्तःक्रियाओं पर ही ध्यान केन्द्रित रखे तो व्यक्ति और समूह की प्रकृति के कारण ही ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं जिनसे कि समूह के घटक अवयव उसको शिथिल या कमजोर बना सकते हैं।

- सामूहिक कार्य के अन्तर्गत यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि सामूहिक कार्य के दरम्यान सभी सिद्धान्तों के समन्वित प्रभाव पड़े न कि अलग–अलग।

कठिन शब्दों के अर्थ

- **संबल** की **प्रविधिः**– यह सामूहिक और वैयक्तिक दोनों स्तरों पर प्रयुक्त होती है। समूह में किसी भी कारण से जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि वह किसी प्रकार का निर्णय करने में वैचारिक या मानसिक स्तर पर कठिनाई महसूस करता है तो सामूहिक कार्यकर्त्ता ऐसे सुझाव या विचार व्यक्त करता है जिससे कि समूह को ढाढ़स बँधता है या उसे प्रोत्साहन मिलता है।

- **साधनों के उपयोग** :– समूहों के कार्य क्षेत्र में कुछ ऐसे साधन प्रायः उपलब्ध रहते हैं जिनका कि उपयोग समूह अपने हित में कर सकता है चाहे वे साधन अभिकरण में हों अथवा पास–पड़ोस, समुदाय या समाज में हों।

- **खोज की प्रविधि** :– इस प्रविधि के प्रयोग से एक ओर जहाँ समूह को इच्छित वस्तु या तथ्य की जानकारी हासिल होती है वहीं समूह के सदस्यों में तन्मयता और स्वचेष्टा विकसित होती है जिससे कि वैयक्तिक विकास और तदनन्तर सामूहिक विकास होता है जो कि सामूहिक कार्य का अभीष्ट है।

आओ करके देखें

- अपने चयनित क्षेत्र में व्यक्तित्व विकास हेतु बालकों के साथ सामूहिक कार्य करें।
- अपने चयनित क्षेत्र में सामूहिक समाज कार्य के अन्तर्गत प्रविधि के रूप में वैयक्तिकरण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग करें।
- अपने चयनित क्षेत्र में युवाओं का समूह बनाकर उन युवाओं के साथ सामूहिक कार्य करें।
- अपने चयनित क्षेत्र में बालकों का मनोरंजन समूह विकसित करें।
- अपने चयनित क्षेत्र में बालकों का खेल समूह विकसित करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

1. समाज कार्य परिचय – प्रो0 राजाराम शास्त्री।

2. समाज कार्य का इतिहास एवं दर्शन – प्रो0 मिर्जा रफुद्दीन अहमद।

3. समाज कार्य – डॉ. जी. आर. मदन।

4. सामाजिक कार्य का परिचय – डॉ. धर्मपाल चौधरी।

■■■

8.4 : सामुदायिक संगठन (Community Organization)

उद्देश्य

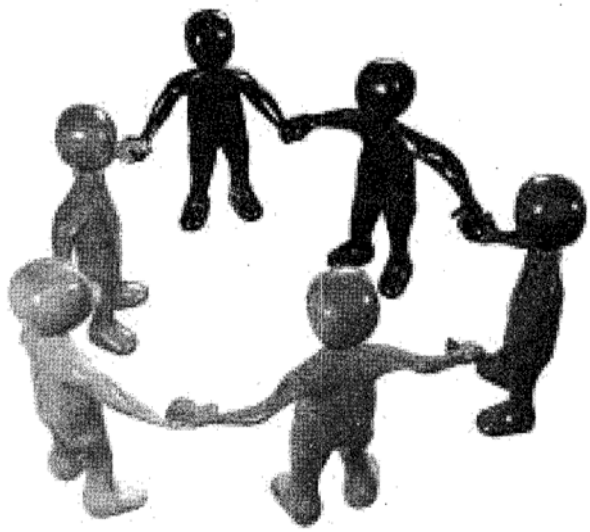
इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे कि–

- सामुदायिक संगठन की अवधारणा और सिद्धान्त।
- सामुदायिक समस्याओं के निराकरण में सामुदायिक संगठन की भूमिका।
- सामुदायिक संगठन निर्माण की प्रमुख बाधाएँ और उनके निराकरण के उपाय।

सामुदायिक संगठन

सामान्य भाषा में सामुदायिक संगठन का अर्थ किसी क्षेत्र में वहां की आवश्यकताओं एवं उपलब्ध साधनों के बीच समुचित एवं प्रभावपूर्णसम्बन्ध स्थापित करके उनमें सामंजस्य स्थापित करना और इसमें जो भी कठिनाइयां व समस्यायें उत्पन्न हो उनका समाधान करना है।

एक प्रक्रिया के रूप में इसका अर्थ किसी भौगोलिक क्षेत्र अथवा समुदाय में व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का आपस में मिलकर अपनी समाज–कल्याण की आवश्यकताओं को निर्धारित करना, उनकी पूर्ति के उपाय निश्चित करना और उनके लिए आवश्यक साधनों को जुटाना है। इसका यह भी अर्थ है कि सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्तियों को इस योग्य बनाने का प्रयत्न करे कि वे अपनी आवश्यकताओं तथा समस्याओं को स्वयं ही समझें और हल कर सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि **प्रक्रिया का अर्थ आवश्यकताओं तथा समस्याओं को अभिकेन्द्रित करना, उनका क्षेत्र व अर्थ स्पष्ट करना, उनकी पूर्ति व हल के लिए कार्यक्रम बनाना, आवश्यक साधनों को जुटाना, कार्यक्रम की सामान्य लोगों के सामने व्याख्या करना और अन्त में लोगों को सामुदायिक कार्य में संलग्न कर देना है। इस प्रकार प्रक्रिया का अर्थ समस्याओं के अभिकेन्द्रीकरण से लेकर उनके समाधान तक का समुचित कार्य है।** समुदाय की समस्याओं से संबंधित अनेक प्रकार की प्रक्रियायें हो सकती हैं, किन्तु समुदाय–संगठन की प्रक्रिया हम केवल उसी को कहेंगे जिसके द्वारा समुदाय की शक्ति व योग्यता को एक इकाई के रूप में विकसित किया जा सके और इस प्रक्रिया के प्रारम्भ करने, उसे समृद्ध बनाने तथा उसे विकसित करने का कार्य सामाजिक कार्यकर्ता के द्वारा किया जाय।

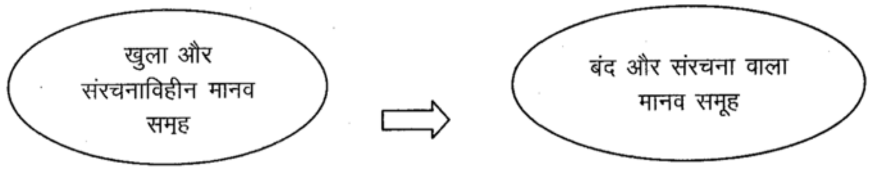


संगठन

एक क्षेत्र के रूप में समाज–कल्याण संस्थाओं के कार्यों में समन्वय स्थापित करना, उनके लिए धन एकत्र करना, सामाजिक कानूनों को बनवाना तथा अन्य इस प्रकार के कार्य भी इसकी सीमा के अन्तर्गत आते हैं। सामुदायिक संगठन का सामाजिक सेवाओं के संगठन तथा उनके प्रशासन में विशेष महत्व है।

समुदाय की परिभाषा

समुदाय शब्द का भौगोलिक तथा प्रकार्य दो दृष्टियों से प्रयोग किया जाता है। भौगोलिक दृष्टि से समुदाय का अर्थ किसी एक निश्चित भू–भाग पर रहने वाले सभी लोगों के एक ऐसे समूह से होता है जिनके बीच आपस में सम्पूर्ण जीवन की बुनियादी बातों में आदान–प्रदान हो। उनका केवल किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही मिलना–जुलना पर्याप्त नहीं होता। ऐसे समुदाय की विशेषता यह है कि उस समुदाय के समस्त सदस्य अपना सम्पूर्ण जीवन निर्वाह उसी समुदाय में रहकर कर सकें। इस प्रकार समुदाय उस भू–भाग के रहने वाले सभी लोगों के बीच का आपसी व्यवहार, निश्चित रीति–रिवाज तथा विशिष्ट संस्थाओं के संगठन का एक प्रतिमान है जिसके द्वारा उसके सदस्यों का जीवन एवं उनका व्यवहार नियन्त्रित होता है। इस प्रकार के समुदाय का आधारभूत तत्व, एक निश्चित भू–भाग, उसके सदस्यों में सामुदायिक भावना या उनके बीच आदान–प्रदान की प्रक्रिया है।



मानव समूहों का क्रमिक विकास

किसी भी समुदाय के निर्माण के लिए उनके सदस्यों में सामुदायिक भावना का होना एक आवश्यक तत्व है, जिसके अभाव में समुदाय विच्छिन्न हो जाता है और इसके विपरीत इस भावना के होने पर वह भू–भाग जिस पर वह समुदाय स्थित है, एक भौगोलिक भू–भाग से अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। वह उनका आवास ही नही होता अपितु उनका अपना घर होता है जिसके प्रति उनके ह्रदय में मोह की भावना होती है। समुदाय के सदस्यों में अपने भू–भाग के प्रति मोह की यह भावना सामुदायिक संगठन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी भावना से प्रेरित होकर लोग वहां के रीति–रिवाज, प्रचलन, सामाजिक व्यवहार तथा प्रथाओं एवं संस्थाओं को एक सम्मिलित सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके जीवन पर इस प्रकार की सामुदायिक भावना की छाप जन्म से ही पड़ती है जिसका दर्शन हम विभिन्न रूपों में करते हैं, जैसे–

(अ) **एक भाव–** किसी समुदाय के सदस्यों में अपने समुदाय के प्रति मोह की भावना होती है, और वे उसको एक परिवार के रूप में समझते हैं और अपने सब सदस्यों के लिए हम की भावना होती है। जब वे समुदाय के लिए हम कहते हैं तो उनमें विभाजन की भावना नहीं होती और जब हमारा कहते हैं तो उनमें विचार विभिन्नता नहीं होती। इस प्रकार की भावना उसी समय उत्पन्न होती है जब वे एक सामाजिक प्रतिमान में गठित होते हैं व्यक्तिगत स्वार्थ सामूहिक हित में निहित होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह सम्पूर्ण समुदाय का ही एक अंग है।

(आ) **कर्त्तव्य भावना–** जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि समुदाय में उसका एक निश्चित स्थान है और उसके प्रति उसका एक निश्चित कर्त्तव्य है तो इसे कर्त्तव्य भावना कहते हैं। इस भावना के होने पर ही व्यक्ति समुदाय में अपनी सदस्यता का अनुभव करता है और उसका पालन करके इस भावना का प्रदर्शन करता है।

(इ) **निर्भरता की भावना**— प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समुदाय पर ही निर्भर करता है क्योंकि उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकतायें समुदाय में रहकर ही पूरी होती हैं। समुदाय के एकीकरण एवं संगठन के लिए उसके सदस्यों में इस प्रकार की निर्भरता की भावना का अनुभव करना अति आवश्यक है।

सामुदायिक भावना के ये तत्त्व विभिन्न समुदायों में अलग–अलग मात्रा में पाये जाते हैं किंतु इनका होना किसी भी समुदाय के संगठन का प्रमाण है। जिन समुदायों में इन तत्त्वों का अभाव हो वहाँ सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया के द्वारा इनको उत्पन्न करना अनिवार्य है।

आज के तीव्रता से बदलते हुए औद्योगिक युग में जहाँ आवागमन के साधन सुगमता से उपलब्ध हैं, लोगों के संगठन का रूप भी बदलता है और उसके साथ–साथ समुदाय की परिभाषा भी बदलती है। आज के युग में लोग अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने भौगोलिक क्षेत्र में उपलब्ध साधनों पर ही आधारित नहीं रहते। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति बाहरी स्थानों से भी कर सकते हैं – इसलिए सामुदायिक संगठन के बहुत से कार्यक्रम भौगोलिक इकाई की अपेक्षा लोगों के समान हित, उद्देश्य अथवा कार्यों के आधार पर बनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों का वह समूह जो किसी समान हित व उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामूहिक रूप से कार्य करे तो उसे कार्यकारी समुदाय कहते हैं। इस प्रकार के समुदाय में किसी भौगोलिक समुदाय के सभी सदस्यों को सम्मिलित नहीं करते बल्कि केवल उन्हीं व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के समूहों को सम्मिलित किया जाता है जिनका विशिष्ट उद्देश्य अथवा कार्य समान हो। इस प्रकार के समुदाय का मुख्य तत्त्व समान उद्देश्य अथवा समान हित की भावना है जो किसी एक समय पर उनमें पायी जाय।

भौगोलिक समुदाय तथा कार्यकारी समुदाय में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि किसी विशिष्ट भौगोलिक समुदाय का आकार लगभग समान रहता है किन्तु कार्यकारी समुदाय का आकार सम्मिलित हित व उद्देश्य के परिवर्तन के साथ बढ़ता–घटता रहता है। किसी एक समय में जितने लोगों का एक समान हित हो उन्हीं लोगों का समूह समुदाय कहलायेगा। इस दृष्टि से कभी–कभी एक भौगोलिक समुदाय में कई कार्यकारी समुदाय हो सकते हैं। जब कई भौगोलिक समुदाय के कुछ समान हित एवं उद्देश्य हों और उनके लिए वे मिलकर कार्य करें तो ऐसे सभी समुदाय मिलकर एक कार्यकारी समुदाय का निर्माण करते हैं।

सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार के समुदायों को स्पष्ट रूप से समझा जाए। जब कोई सामुदायिक संगठनकर्त्ता समुदाय में कार्य करे तो उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना

चाहिए कि वह किस प्रकार के समुदाय में कार्य कर रहा है और इसका आकार व स्वभाव क्या है। यद्यपि दोनों प्रकार के समुदाय में कार्य करने की विधि और उसके सिद्धान्त लगभग समान हैं फिर भी यदि सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता ने समुदाय के स्वभाव और रूप को स्पष्ट रूप से नही समझा है तो उसकी सफलता संदिग्ध है।

संगठन

समुदाय की परिभाषा के मूल में ही यह विचार निहित है कि उसमें कुछ न कुछ मात्रा में संगठन उपलब्ध है। सामुदायिक संगठन से तात्पर्य पूर्व स्थापित संबंधों एवं संगठन में सुधार करके उन्हें और अधिक दृढ़ बनाना है। इसकी आवश्यकता एस समय भी होती है जब या तो समुदाय के कुछ अंग सम्पूर्ण के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन में असफल होते हैं अथवा सम्पूर्ण समुदाय अपने कुछ अंगों की आवश्यकताओं की पूर्ति में असफल होता है।



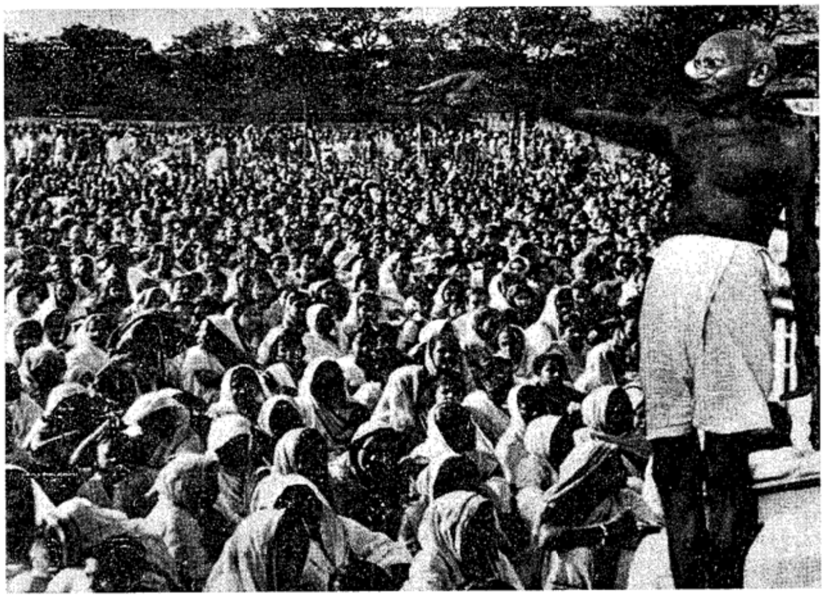
समुदाय में विघटित तथा अगठित तत्त्व हो सकते हैं जिनके कारण उसका संगठन छिन्न–भिन्न हो जाता है और जिनको फिर से अधिक संगठित करने की आवश्यकता होती है। विगठित तत्व प्रायः समूहों तथा वर्गों के बीच संघर्ष के कारण अथवा सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक दशा में समुदाय सुचारु रूप से कार्य करने में असफल रहता है। इस प्रकार समुदाय में सुचारु रूप से कार्य करने में कोई गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाने पर हम उसे विघटित समुदाय कहते हैं।

दूसरी ओर एक अगठित समुदाय वह है जिसमें संगठन की कमी हो। ऐसे समुदाय या तो कम संगठित होते हैं अथवा अतिसंगठित होते हैं। कम संगठित समुदाय वह है जिसमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक सुविधाओं के अभाव में पर्याप्त संगठन न हो – जैसे – किसी समुदाय में उद्यान, विद्यालय, पंचायत घर आदि का अभाव हो। इसके विपरीत एक अतिसंगठित समुदाय वह है जिसमें संस्थाओं एवं समूहों की बहुलता के कारण कार्य में पुनरावृत्ति हो अथवा लोगों की कार्यक्षमता व्यर्थ के कार्यों में व्यय हो। इस प्रकार के समुदाय में समग्रता एवं एकीकरण के रूप में पूर्ण संगठन की आवश्यकता होती है या तो समुदाय के ढाँचे में कुछ आवश्यक अंगों को जोड़ देना होता है जिनसे उनका अभाव दूर हो सके अथवा समुदाय के उपलब्ध साधनों तथा सुविधाओं के बीच एक ऐसा क्रम व सामंजस्य उत्पन्न करना होता है जिससे समुदाय की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और समुदाय की कार्यक्षमता व्यर्थ में नष्ट न हो।

किसी भी समुदाय में सामुदायिक संगठन व सामुदायिक विघटन की प्रक्रियाएँ सदैव चलती रहती हैं चाहे सामाजिक कार्यकर्त्ता वहाँ कार्य करता हो अथवा न करता हो। ये प्रक्रियाएँ किसी भी समुदाय के लिए स्वाभाविक हैं किन्तु इस प्रक्रिया को समाज–कार्य की प्रक्रिया उस समय कहते हैं जब यह समाज–कार्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सोच विचार कर पूर्ण निर्णय के साथ समाज–कार्य सिद्धान्तों व पद्धतियों में शिक्षित व्यक्ति जिसे समुदाय में स्वीकार किया गया हो, के द्वारा किया जाय।

अतः समाज–कार्य में सामुदायिक संगठन के लिए या तो उपलब्ध साधनों के बीच एक ऐसा क्रम बनाना होता है जिससे समुदाय की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अथवा समुदाय के ढाँचे में कुछ आवश्यक अंगों को जोड़ देना होता है जिनसे उनका अभाव दूर हो सके। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए उन क्रियाओं को समझना आवश्यक है जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत की जाती हैं।

भारत में सामुदायिक संगठन – यद्यपि सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया मूल रूप में सभी समुदायों में समान रहती है किन्तु वे क्रियाएँ जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत की जाती हैं, समुदाय–समुदाय में भिन्न–भिन्न होती है। वे किसी समुदाय विशेष के सांस्कृतिक व सामाजिक विकास के स्तर, विघटन के रूप, लोगों की महत्त्वाकाँक्षाएँ इत्यादि पर निर्भर होती हैं। नगरी व ग्रामीण समुदायों में भी सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया भिन्न–भिन्न होती है। विकसित पाश्चात्य देशों के समुदायों व कम विकसित एशिया, अफ्रीका, के समुदायों में भी सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया अलग होती है। सामुदायिक–संगठन की प्रक्रिया का विकास धनी देशों में हुआ और उस प्रक्रिया का जो रूप विकसित देशों में प्रयुक्त होता है उसे प्रायः सामुदायिक–विकास की संज्ञा दी जाती है।



गाँधी जी एक सामुदायिक संगठक के रूप में

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समुदाय की समाज–कल्याण की आवश्यकताओं तथा उपलब्ध साधनों के बीच समायोजन किया जाता है जब कि सामुदायिक विकास के अन्तर्गत समुदाय के समाज–कल्याण की अपेक्षा आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है क्योंकि कम विकसित देशों के समुदायों की मूल समस्यायें आर्थिक होती हैं। भारतवर्ष की गणना भी कम विकसित अथवा विकासशील देशों में की जाती है। इसलिए भारत के ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना प्रारम्भ की गयी। निःसंदेह भारतवर्ष के गाँवों की समस्याएं आर्थिक हैं और यह भी सत्य है कि जब तक ग्रामीण समुदायों का आर्थिक विकास नहीं होगा उनकी प्रगति नहीं होगी। किन्तु जितना यह तथ्य सही है उतना ही यह कहना भी सही है कि भारतीय ग्रामीण समुदायों की समस्याएँ केवल आर्थिक व समाज–कल्याण की नहीं बल्कि वे समाज सुधार की भी हैं। भारतवर्ष एक प्राचीन देश है। यहाँ की अपनी संस्कृति और सभ्यता है और गाँव की इस संस्कृति व सभ्यता के कभी केन्द्र रहे हैं। किन्तु इतिहास के परिवर्तन के साथ यहाँ की सभ्यता और संस्कृति में अनेक ऐसे दोष उत्पन्न हो गये हैं जिनके कारण सामाजिक नियन्त्रण के यंत्र व समुदायों को सुसंगठित रखने वाले तत्त्व छिन्न–छिन्न हो गये हैं जिसके फलस्वरूप समाज में अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। जब तक इन बुराइयों को दूर नहीं किया जायेगा और समाज की विकृत मान्यताओं, मूल्यों, रीति–रिवाज इत्यादि में सुधार नहीं लाया जायेगा तब तक ग्रामीण समुदायों की समस्यायें पाश्चात्य धनाढ्य व विकसित देशों के समुदायों तथा अफ्रीका के देशों के समुदायों की समस्याओं से भिन्न रहेंगी। ये समस्याएँ समाज–कल्याण, आर्थिक व समाज सुधार की हैं। इन समस्याओं की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये मुख्यतः एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। जब तक सभी समस्याओं को

साथ–साथ हल नहीं किया जायेगा इनमें से कोई एक समस्या को अलग से हल नहीं कर सकते। इसलिए भारतवर्ष में सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समाज कल्याण, आर्थिक विकास व समाज सुधार क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना अनिवार्य है। व्यावहारिक दृष्टि से भी तीनों प्रकार की समस्याओं को साथ–साथ हल करना आवश्यक है।

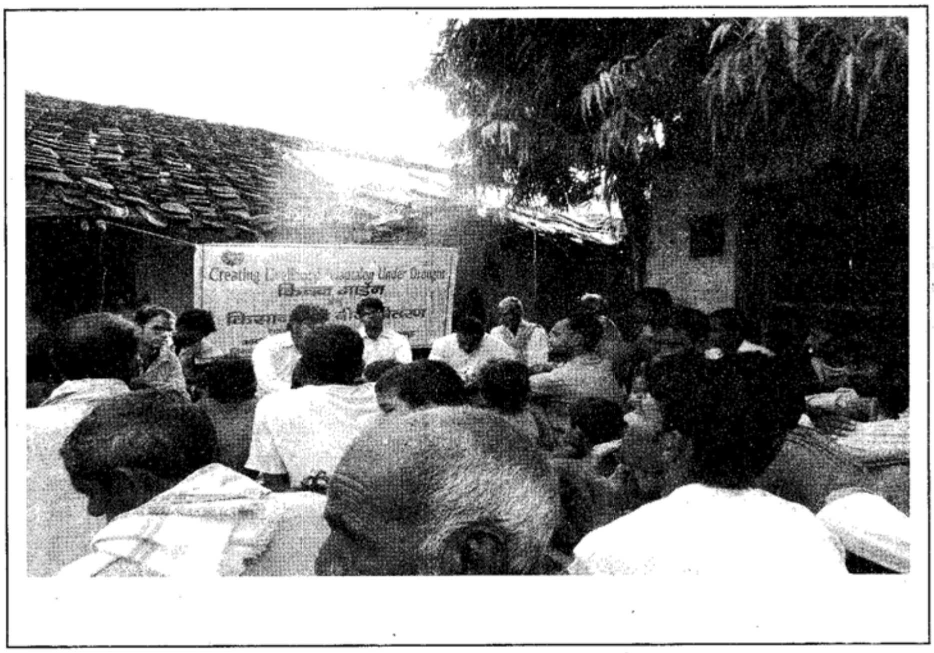


भारत में सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत क्रियाएँ

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत क्रियाएँ **मुख्य रूप से आवश्यकताओं का पता लगाना, आवश्यक साधनों की खोज करना, उनके समायोजन का कार्यक्रम तैयार करना उस कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप में परिणत करना और फिर उनका मूल्यांकन करना है।** किन्तु भारतवर्ष के ग्रामीण समुदायों में इन क्रियाओं के अतिरिक्त अनेक और भी क्रियाएँ आवश्यक हैं।

सर्वप्रथम समुदाय के लोगों को उनकी अपनी स्थिति, समस्याओं, उनके हल के उपायों, इत्यादि के विषय में शिक्षित करना आवश्यक है क्योंकि गाँव में लोग समस्याओं से पीड़ित होते हैं, किन्तु वे अपनी समस्याओं से परिचित नहीं होते क्योंकि या तो वे अपनी समस्याओं के साथ अपने को ऐसा मिला लिये हैं कि वे उनको अनुभव ही नहीं करते अथवा वे उन समस्याओं को अपने जीवन का अंग मान लेते हैं और यह नहीं सोच पाते कि वे उन समस्याओं को हल कर लेंगे। उनकी महत्वाकांक्षाएँ सोई पड़ी रहती हैं और उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि उस स्थिति में से निकलने का कोई भी रास्ता उनके पास हो सकता है। अतः आर्थिक विकास व समाज–कल्याण आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न के पहले उनके इस दृष्टिकोण को बदल देना है जिससे वे यह अच्छी तरह समझ लें कि उनकी अपनी समस्याओं को हल करने

की उनमें शक्ति है और वे निश्चित रूप से उन्हें हल कर सकते हैं। यदि यह आत्म–विश्वास उनमें आ जाय तो आर्थिक व समाज–कल्याण सम्बन्धी समस्याएं आसानी से हल हो जाएंगी। इसके लिए सामाजिक संगठन संस्थाओं को सामाजिक शिक्षा व समाज–सुधार का कार्य करना आवश्यक है। इसके साथ ही लोगों में समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझने व उसको पूरा करने की भावना भी उत्पन्न की जानी चाहिए। यदि यह भावना उनमें उत्पन्न हो जाय तो फिर वे अपने समुदाय को अपना समझने लगेंगे और उनमें सामुदायिक भावना आ जायेगी।



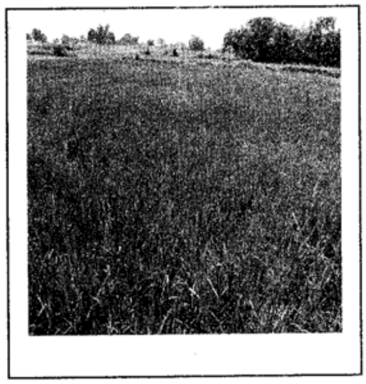
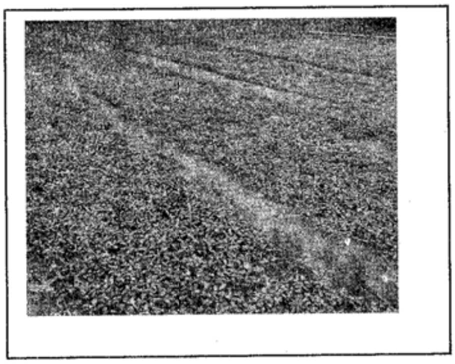
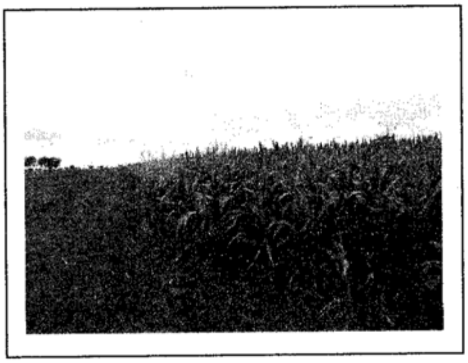
लोगों को शिक्षित करने व समाज–सुधार कार्य करते समय इस बात को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए कि लोगों की महत्वाकाँक्षाएँ इतनी अधिक न बढ़ें कि उनक पूर्ति सामुदायिक संगठन–संस्था की शक्ति व सामुदायिक साधनों से परे हो। लोगों की महत्वाकांक्षाओं में उसी अनुपात से वृद्धि होनी चाहिए जिस प्रकार से अन्य क्षेत्रों में उनका विकास हो। यदि कभी साधनों और शक्ति से परे महत्वाकांक्षाएं उत्पन्न हो जायं और उनकी पूर्ति समय पर न हुई तो लोगों में निराशा की भावना उत्पन्न हो जायेगी और फिर अन्य सभी समस्याओं के प्रति भी उनमें एक प्रकार की निराशा की भावना उत्पन्न हो जायेगीं। संस्था को हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समुदाय के लोगों में इस प्रकार की भावना उत्पन्न ही न हो।



दूसरी बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण समुदायों की आर्थिक स्थिति को सुधारा जाय। जब तक लोग गरीबी के गर्त में पड़े रहेंगे उनका मानसिक व आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है। ग्रामीण समुदायों में अनेक ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हें दो समय पेट भर भोजन भी उपलब्ध नहीं होता। उनके लिए धर्म, अध्यात्मवाद व अन्य ऐसी बातें जो प्रगति के चिह्न हैं, व्यर्थ हैं। उनके लिए सब कुछ रोटी है। वे दो समय भोजन के लिए सब कुछ न्योछावर कर सकते हैं और कठिन से कठिन कार्य भी कर सकते हैं। इसीलिए सामुदायिक संगठन संस्थाओं को समुदाय के आर्थिक विकास के लिए भी कार्य करना चाहिए।

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है और ग्रामीण समुदायों के अधिकतर लोगों का व्यवसाय कृषि है। अतः कृषि के विकास के लिए भी सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत कार्य किया जाना आवश्यक है। यदि वे संस्थाएँ सीधे रूप से यह कार्य न भी कर सकें तो उन्हें अन्य संस्थाओं के माध्यम से यह कार्य कराना चाहिए। ग्रामीण समुदायों के आर्थिक जीवन की दूसरी कड़ी ग्रामीण उद्योग है। प्राचीन काल में ये उद्योग बहुत विकसित थे और लोग अपनी सभी प्राथमिक आवश्यकताओं को स्थानीय प्रयत्नों के द्वारा ही पूरा कर लेते थे; किन्तु समय के चक्र के साथ इनका महत्व कम हो गया और इसके साथ ही ग्रामीण जीवन भी छिन्न–भिन्न हो गया। अतः ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए उन उद्योगों को पुनर्जीवित करना भी आवश्यक है। यह कार्य भी भारतवर्ष में सामुदायिक संगठन संस्थाओं के द्वारा किया जाना चाहिए, चाहे वे सीधे इस कार्य को करें अथवा अन्य संस्थाओं के माध्यम से। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कृषि व उद्योग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक का विकास दूसरे पर निर्भर है। इसलिए कृषि व उद्योगों का साथ–साथ विकास किया जाना चाहिए।




भारतवर्ष के ग्रामीण समुदायों में समाज–कल्याण की स्थिति भी शोचनीय है। जन–स्वास्थ्य, आवास, जन–शिक्षा इत्यादि समाज कल्याण से संबंधित ग्रामीण क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ हैं, जिनसे ग्रामीण समुदाय पीड़ित है। उनके विकास के लिए इन समस्याओं का भी हल किया जाना आवश्यक है। यह भारतवर्ष में सामुदायिक संगठन का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अन्तर्गत लगभग उन सभी कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत अन्य देशों में किए जाते हैं किन्तु अन्तर इतना है कि उनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन स्थानीय रूप से उपलब्ध न हों, उन्हें निकटवर्ती समुदायों से आपसी सहयोग के आधार पर प्राप्त करना चाहिए। यदि इससे भी पूर्ति न हो तो उन्हें बाहर से भी प्राप्त किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रहे कि समुदाय परावलम्बी व पराश्रित न हो। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी तो फिर समुदाय का स्थायी विकास सम्भव नहीं होगा।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामीण समुदायों के लिए समाज–सुधार, आर्थिक विकास व समाज–कल्याण तीनों ही प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक हैं। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है तीनों ही प्रकार की क्रियाएं साथ–साथ चलनी चाहिए। जब तक समुदायों का समग्र रूप से संगठन व विकास नहीं किया जायेगा कोई भी एक समस्या संतोषप्रद ढंग से हल नहीं की जा सकती।

सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया को व्यावहारिक रूप देने में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। वे अलग–अलग प्रकार की हो सकती हैं और उन कठिनाइयों को स्थानीय स्थिति को ध्यान में रख कर ही दूर किया जा सकता है। उनका सामान्यीकरण करना कठिन है। फिर भी कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो प्रायः सभी समुदायों में उत्पन्न होती हैं और जिनको हल करने के लिए कुछ ऐसे उपाय हो सकते हैं जो सभी समुदायों के लिए उपयोगी हैं।

जन–सहयोग की प्राप्ति

सामुदायिक संगठन में सबसे कठिन समस्या जन–सहयोग प्राप्त करने की होती है। जब तक समुदाय के लोगों का किसी समस्या को हल करने के लिए सहयोग प्राप्त न हो उस समस्या का निराकरण प्रायः कठिन होता है। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं के सामने सदैव यही कठिन प्रश्न रहता है कि जन–सहयोग कैसे प्राप्त करें। किसी भी समुदाय में यह तो सम्भव नहीं है कि समुदाय के सभी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके किन्तु अधिक से अधिक लोगों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्येक समुदाय में लोग कुछ छोटे–बड़े अनेक समूहों में बंटे रहते हैं और प्रत्येक समूह के एक या कुछ नेता भी होते हैं जो व्यक्तिगत रूप से अपने समूह का और सभी समूह के नेता मिलकर उस समुदाय के दृष्टिकोण व मनोकामना के प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए सामुदायिक संगठन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता ऐसे समूहों का पता लगायें जिनका समुदाय में विशेष महत्व हो और दूसरे उन समूहों के नेताओं का भी पता लगाया जाय। यदि इन नेताओं को एक ही मंच पर एकत्रित किया जा सके और उनमें अपने समुदाय के प्रति व अपने कर्तव्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जा सके तो इससे समुदाय के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व हो जाता है और उन्हें कार्य करने के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है।



समुदाय के विभिन्न समूहों को समझने के लिए समुदाय के सामाजिक संगठन को समझना आवश्यक है। किसी भी समुदाय में कुछ समूह तो प्रत्यक्ष होते हैं जिन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है, जैसे – पंचायत, शिक्षा–संस्था, युवक–मंगल–दल इत्यादि। किन्तु ऐसे समूहों का पता लगाना कठिन होता है जो अप्रत्यक्ष होते हैं और वे किसी भी अर्थ में कम महत्त्वपूर्ण नही हैं बल्कि कभी–कभी वे अधिक महत्त्वमपूर्ण होते हैं – जैसे छोटी–छोटी मित्र–मण्डलियाँ, जाति समूह, पारिवारिक गुट इत्यादि। सामुदायिक संगठन में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही समूहों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। कार्यकर्त्ता को इन्हीं समूहों के द्वारा साथ मिलकर कार्य करना चाहिए।

समुदाय के प्रमुख समूहों का पता लगाने के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उन्हें संगठित करने का है। इसके लिए उन्हें कुछ सामूहिक व सम्मिलित समस्याओं के प्रति संगठित करना चाहिए। यह कार्य समुदाय के विभिन्न नेताओं के द्वारा किया जा सकता है किन्तु नेता ऐसे होने चाहिए कि जिन्हें समुदाय के द्वारा स्वीकार किया गया हो और जिनका किसी समूह के साथ अभिन्न सम्बन्ध हो। प्रायः ऐसे लोगों को नेता बना लिया जाता है जो शिक्षित होते हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक नेता से लगते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। समाज में अपना नेता चुनकर प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजने को कहा जाय तो भी वे इस प्रकार के शिक्षित व्यक्ति को ही अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं। ऐसा इसलिए नहीं होता कि वे उस समूह के वास्तविक नेता है। बल्कि वे इनको इसलिए चुनते हैं ताकि ये अन्य समूहों के नेताओं के समान हो सकें और उनकी–सी भाषा में उनके साथ बातचीत कर सकें, किन्तु समूह में उनका पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जाता।

यदि सामुदायिक संगठन–संस्था वास्तविक रूप से कार्य करना चाहती है तो उसके लिए समुदाय के वास्तविक नेतृत्व का, जिन्हें समुदाय में स्वीकार किया जाता हो जो समुदाय के लोगों का वास्तविक रूप से प्रतिनिधित्व करते हों, और जो लोगों की मनोवृत्ति को समझते हों और जिनकी मनोवृत्ति को लोग समझते हों, पता लगाना अनिवार्य है। ऐसे नेता विश्वास के साथ अपने समूह के सम्बन्ध में बोल सकते हैं क्योंकि उनके और समूह के बीच आदान–प्रदान की क्रिया बराबर होती है। जब किसी समूह को ऐसा नेतृत्व प्राप्त हो जाता है तो समूह में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे इस विश्वास के साथ निरन्तर कार्य करते जाते हैं कि उनका हित सुरक्षित है।

विभिन्न समूहों के द्वारा स्वीकृत नेता जब मिलकर एक साथ कार्य करते हैं तो समुदाय में संगठित रूप से कार्य करने का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। वास्तविक नेताओं को इसलिए नेता नहीं बनाया जाता कि वे देखने में अच्छे लगते हैं अथवा मधुरभाषी है और सभाओं में चतुराई के साथ कार्य कर सकते हैं अथवा किसी विषय को मोड़–तोड़ कर

रख सकते हैं बल्कि उनके नेतृत्व का आधार उनकी अपने समूह की भावनाओं का सही रूप से प्रतिनिधित्व करने की शक्ति होती है जिससे वे समूह–सदस्यों की भाषा बोलते हैं और भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

समुदाय में कुछ औपचारिक नेता भी होते हैं, जैसे– अध्यापक, पुरोहित, वृद्ध इत्यादि। सामुदायिक कार्य में ऐसे नेताओं का भी सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है।

यदि सामुदायिक संगठन–संस्था समुदाय में उपलब्ध समूहों को एकत्रित करने और उनके नेताओं में आपसी सहयोग से कार्य करने में सफल हो जाये तो उनके लिए जन–सहयोग प्राप्त करना आसान हो जायेगा, किन्तु उन समूहों को एक संस्था के अन्तर्गत एकत्र करना बहुत कठिन कार्य है। वास्तव में इसका कोई निश्चित उपाय भी नही है, फिर भी यदि प्रयत्न किया जाय तो ऐसा करना कठिन भी नही है। यदि विभिन्न समूहों के लोगों को आपसी समस्याओं के सम्बन्ध में सामूहिक चिन्तन व चर्चा करने के लिए एकत्र कर लिया जाय तो समूहों के बीच पारस्परिक सहयोग उत्पन्न करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा। यदि समुदाय में कोई आकस्मिक संकट उत्पन्न हो जाय तो ऐसा करना और भी आसान होता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामूहिक उद्देश्यों के लिए भी उन समूहों व समूह के नेताओं को एकत्रित किया जा सकता है, किन्तु उन उद्देश्यों को निर्धारित करना भी एक कठिन कार्य है।

सामूहिक उद्देश्य का निर्णय करने मे लोगों के असन्तोष की भावना बहुत सहायक होती है। यदि सामुदायिक संगठन–संस्था अपने उद्देश्यों में समुदाय के असंतोष का सही रूप से प्रतिनिधित्व करती है तो उन उद्देश्यों को विभिन्न समूह आसानी से स्वीकार कर लेंगे।

समुदाय के लोगों को सामुदायिक कार्य करने के लिए अनेक प्रकार की अभिप्रेरणायें होती हैं किन्तु सबसे अधिक शक्तिशाली अभिप्रेरणा समुदाय के सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके कुछ विशेष अंग के प्रति असन्तोष की भावना है। यदि लोगों में इस प्रकार का असन्तोष हो तो उनमें कठिन–से–कठिन कार्य करने और बड़े–से–बड़ा कष्ट सहने की शक्ति आ जाती है। कभी–कभी लोग ऐसा कार्य भी कर डालते हैं, जिसकी कि वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकते और वे अपनी ऐसी विशाल शक्ति का प्रदर्शन करते हैं जिसको देखकर लोग स्वयं ही चकित रह जाते हैं।

इस दृष्टिकोण का मनोविकास विज्ञान व मनोविज्ञान के इस सिद्धांत से भी पुष्टि होती है कि परिवर्तन के लिए कष्ट आवश्यक है। यदि लोगों को यह विश्वास हो जाय कि बदली हुई अवस्था में उनके कष्टों का निवारण हो जायेगा, अथवा वे बहुत कम हो जायेंगे तो वे परितर्वन का विरोध नहीं करेंगे बल्कि इसके विपरीत परिवर्तन लाने का प्रयत्न करेंगे।

अपनी अवस्था के प्रति असन्तोष की भावना लोगों को सामुदायिक कार्य मे भाग लेने के लिए प्रेरित करने वाली एक मात्र प्रेरणा तो नहीं है किन्तु यह अन्य अभिप्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया में समुदाय के लोगों के आपसी झगड़े, तनाव, ईर्ष्या इत्यादि अनेक बाधायें आती हैं किन्तु यदि लोगों में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाय कि समुदाय की वर्तमान स्थिति गलत है और इसको बदलने की आवश्यकता है, तो लोगों में सामुदायिक कार्य करने के लिए और अनेक कठिनाइयों व कष्टों को सहन करने की शक्ति आ जाती है।

यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि लोगों में असन्तोष वास्तविक होना चाहिए न कि उसे बनावटी रूप से उत्पन्न किया गया हो। कभी–कभी लोगों में इस प्रकार का असन्तोष आकस्मात ही उत्पन्न हो जाता है और कभी–कभी बहुत दिनों से दबा हुआ असन्तोष प्रस्फुटित हो जाता है, जो लोगों को आपसी चर्चा करने के लिए प्रेरित करता है और सही नेतृत्व प्राप्त होने की दशा में यह चर्चा एक दृढ़ निश्चय के रूप में बदल जाती है तो लोगों में एक नये जीवन का संचार होता है और लोग अपनी बहुत–सी सामूहिक समस्याओं को आपसी सहयोग से हल करने में सफल होते हैं।

यदि लोगों में असन्तोष की भावना एक बार जागृत हो जाय तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लगातार कार्य करते रहें। कभी–कभी ऐसे अवसर होंगे जब लोग बड़े–बड़े कार्य करने के लिए प्रस्तुत होंगे और कभी–कभी ऐसे भी अवसर हो सकते है। जब कि वे कोई कार्य न करना चाहें, किन्तु यदि समुदाय को उचित और सही नेतृत्व प्राप्त है तो ऐसे अवसरों से भी लाभ उठा सकते हैं। जब लोग बड़े कार्य करने के लिए तैयार न हों, तो उस समय पहले से किये हुए कार्यों को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयत्न किये जा सकते हैं। इससे लोगों में विश्वास तथा आशा की भावनायें टूटेगी नहीं। जब लोगों में थकान की वृत्ति दूर हो जाय तो उन्हें फिर से कार्य में लगा देने की आवश्यकता होती है।

यदि समुदाय के लोगों में सामुदायिक कार्यों के प्रति निराशा तथा अरूचि की भावना हो तो उन्हें सामुदायिक कार्यों के लिए प्रेरित करना कठिन होता है किन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण को दूर करना कठिन नहीं है। लोगों में सामुदायिक समस्याओं के सम्बन्ध में मित्रतापूर्ण चर्चा करने, उनको अपनी भावनाओं को प्रदर्शित करने व व्यक्तिगत अनुभवों का आदान–प्रदान करने के लिए अवसर प्रदान करने से लोगों में यह विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है कि वे अपनी समस्याओं को हल करने और अपने सामुदायिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार का विश्वास लोगों में कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करता है।

असन्तोष अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। असन्तोष लोगों को अभिप्रेरणा तब देता है जब कि वह किसी एक निश्चित अवस्था के प्रति हो। यदि ऐसा नहीं है और असन्तोष सामान्य रूप से अपनी सम्पूर्ण अवस्था के प्रति है तो यह लोगों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने के बजाय उनमें और अधिक निराशा की भावना उत्पन्न करता है, क्योंकि वे यह नहीं समझ पाते कि किस समस्या को लेकर पहले हल करें और किस समस्या के लिए क्या करे। सामुदायिक संगठन के लिए केवल कुछ वर्ग विशेष में ही असन्तोष होना पर्याप्त नहीं है। समुदाय में अनेक ऐसी समस्यायें हो सकती हैं जिन्हें लोग सामूहिक रूप से स्वीकार करते हों। इसलिए असन्तोष को ऐसी समस्याओं पर केन्द्रित करना चहिए जो सामूहिक हों और अधिक महत्वपूर्ण हों।

अतः सामूहिक उद्देश्यों को निश्चित करने में लोगों की असन्तोष की भावना बहुत महत्वपूर्ण है। यदि सामुदायिक संगठन–संस्था समुदाय के लोगों के असन्तोष का वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करती है तो लोग उस संस्था के उद्देश्यों को आसानी से स्वीकार कर लेंगे।

सामुदायिक संगठन–संस्था का विकास एक परिवार के रूप में होना चाहिए। जिस प्रकार से कि परिवार के सदस्यों में बहुत–सी बातों पर मतभेद होने के उपरान्त भी उनमें एकता व अपनेपन की भावना होती है उसी प्रकार से सामुदायिक संगठन संस्था के सदस्यों में भी एकता और अपनत्व की भावना होनी चाहिए। जिस प्रकार से पारिवारिक जीवन में कभी सुख होता है, कभी दुःख होता है, कभी कठिनाइयाँ व आपत्तियाँ आती हैं और कभी झगड़े होते हैं, तब भी परिवार के सभी सदस्य आपसी विश्वास व सहयोग के साथ कार्य करते हैं उसी प्रकार से जो संस्था समुदाय को एक स्थान पर समान उद्देश्यों के लिए एकत्रित करती है उसके भी अनेक उत्तरदायित्व होते हैं। उसे लोगों को इस प्रकार से तैयार करना चाहिए जिससे कि वे समुदाय की सभी कठिनाइयों व लाभों का समान रूप से उपयोग कर सकें और मिल कर समुदाय की भलाई के लिए कार्य कर सकें।

प्रत्येक समुदाय में बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो रचनात्मक सामुदायिक कार्य में भाग लेने तथा कार्य करने के लिए व अपना सहयोग देने के लिए इच्छुक होते हैं। वास्तव में जो लोग यह कहते हैं कि समुदाय में लोग उदासीन हैं वे इस वास्तविक तथ्य को भूल जाते हैं। समुदाय में सहयोग तथा स्वेच्छा की भावना होती है किन्तु उसे समझने और पहचानने की आवश्यकता होती है। **प्रायः सामाजिक कार्यकर्त्ता इस प्रकार के सहयोग की भावना से जो समुदाय में होती है अनभिज्ञ होते हैं। यदि वे उसको पहचान लें और उसका रचनात्मक रूप से उपयोग कर लें तो सामुदायिक संगठन बहुत आसान हो जाता है।** यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस सहयोग भावना का किस प्रकार उपयोग किया जाय। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता, यह समुदाय की

परिस्थितियों तथा वहाँ की वस्तुस्थिति पर निर्भर करता है। इस बारे में कुछ मोटी–मोटी बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि समुदाय के औपचारिक और अनौपचारिक समूहों के नेताओं से यह परामर्श लिया जाय कि किस प्रकार कार्य करने से लोगों का सहयोग प्राप्त हो सकता है; क्योंकि वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो समुदाय के बीच आदान–प्रदान की क्रिया को, लोगों की रुचि को, उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को, उनकी कठिनाइयों व समस्याओं को और सबसे अधिक उनकी मनोभावनाओं को समझते हैं। इसलिए सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं को समुदाय के नेताओं की बुद्धिमत्ता पर विश्वास करना चाहिए।

दूसरे, **सामुदायिक कार्यकर्त्ताओं को सह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि समुदाय के सामूहिक सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं हैं, उन्हें लोगों के साथ व्यक्तिगत रूप से भी सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती है।**

तीसरे, **लोगों के साथ उसी स्तर पर कार्य करने की आवश्यकता है जिस पर वे आसानी से कार्य कर सकें और जिस ढंग से वे कार्य करना चाहें उसी ढंग से उन्हें कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए।** सामुदायिक संगठन के कार्यकर्त्ताओं के लिए यह समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि लोग किस स्तर पर कार्यक्रम में सहयोग दे सकते हैं। यदि कार्यक्रम प्रारम्भ करने के साथ ही इस बात का ज्ञान हो जाय तो लोगों का सहयोग अधिक अर्थपूर्ण व क्रियाशील होगा।

सामुदायिक संगठन के लिए जन–सहयोग प्राप्त करने में लोगों के आपसी मतभेद, झगड़े व तनाव बहुत अधिक बाधा डालते हैं, किन्तु लोगों के एक साथ मिलकर पारस्परिक सहयोग के साथ कार्य करने का यह अर्थ नहीं है कि समुदाय में मतभेद व झगड़े पूर्णतः समाप्त हो जायेंगे। वास्तव में यह सब सामुदायिक जीवन के अभिन्न अंग हैं और ये ऐसे तत्व हैं जो सामुदायिक जीवन को शक्ति प्रदान करते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है कि कुछ मतभेद व तनाव रचनात्मक व विधायक होते हैं और कुछ नकारात्मक व विनाशक होते हैं। इनके कारण कभी लोगों में अधिक सहनशीलता व एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना उत्पन्न होती है, जिससे समुदाय की शक्ति में वृद्धि होती है और कभी इनके कारण लोगों में अविश्वास, घृणा और मनमुटाव उत्पन्न हो जाता है जिससे लोगों में दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना उत्पन्न हो जाती है। मतभेदों के ये विरोधी परिणाम अनेक कारणों से होते हैं जिनको समुदाय की स्थिति के संदर्भ में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को समझना चाहिए और उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि लोगों में सामुदायिक हित की भावना उत्पन्न हो जाय और वे सामुदायिक जीवन को अधिक अच्छा बनाने का दृढ़ संकल्प कर लें तो फिर मतभेदों का रचनात्मक रूप में उपयोग किया जा सकता है। सामुदायिक संगठन की

प्रक्रिया को प्रारम्भ करने और दृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भ में अधिक से अधिक ऐसे लोगों को संगठित किया जाय जिनमें सामुदायिक भावना हो और वे समुदाय के हित के लिए कार्य करने के लिए प्रस्तुत हों। कभी–कभी यह प्रक्रिया बहुत धीमी होती है किन्तु इसकी गति उसी रूप में बढ़ती है जैसे–जैसे लोगों में सामूहिक हित की भावना और साथ कार्य करने की इच्छा दृढ़ होती है।

सामुदायिक संगठन में यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या–क्या कार्य पूर्ण किए गए, बल्कि यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि समुदाय के लोगों में साथ कार्य करने की कुशलता, सामुदायिक भावना, समस्याओं को समझने की शक्ति व दूरदर्शिता किस हद तक उत्पन्न हुई है और लोगों ने अपने मतभेदों का किस हद तक रचनात्मक ढंग से उपयोग किया है।

आदर्श रूप में सामुदायिक संगठन का उद्देश्य लोगों में समुदाय की भावना उत्पन्न करना हैं इसके द्वार विभिन्न समूहों में पारस्परिक सम्पर्क उत्पन्न होता है और उनमें अन्तःक्रिया उत्पन्न होती है जिसके द्वारा प्रभावपूर्ण आदान–प्रदान उत्पन्न होता है। आदान–प्रदान सामुदायिक संगठन प्रक्रिया का मूल तत्त्व है। इसके बिना अन्तःक्रिया नहीं हो सकती है और अन्तःक्रिया के बिना सामूहिक जीवन, सामूहिक मूल्य व मान्यताएँ स्थापित नहीं होतीं। आदान–प्रदान का अर्थ केवल मात्र सन्देश लेने व देने की क्रिया से नहीं होता बल्कि यह ऐसी प्रक्रिया है जो सामुदायिक मूल्यों व मान्यताओं को जन्म देती है और उनका क्षेत्र विस्तृत करती है।

जब किसी समुदाय के लोग अपनी समस्याओं के प्रति सचेत हो जायँ, उनमें सामुदायिक भावना का उदय हो जाय तथा अपनी समस्याओं को स्वयं हल करने के लिए तैयार हो जायँ जो सामुदायिक संगठन संस्था को लोगों के उत्साह व शक्ति को रचनात्मक दिशा में मोड़ देना चाहिए। इसके लिए कुछ ऐसे कार्यक्रम तैयार किए जायें जिनमें लोग अपनी इच्छा व शक्ति के अनुसार कार्य कर सकें। ये कार्यक्रम ऐसे हों जो न केवल लोगों को कार्य करने का अवसर दें बल्कि समुदाय की समस्याओं को समाधान करें। कार्यक्रम बनाना और उनका कार्यान्वयन सामुदायिक संगठन का महत्वपूर्ण कार्य है।

हमने जाना

1. समुदाय के माध्यम से लोग अपनी समस्याओं के समाधान करने की क्षमता विकसित कर सकते हैं।

2. समुदाय में परिवर्तन स्वयं लोगों के द्वारा होता है। थोपा गया परिवर्तन स्थायित्व नहीं देता।

3. सभी लोगों का दृष्टिकोण एक हो, तभी समस्याओं का सपना सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

4. आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु संगठित होना आवश्यक है।

5. सामुदायिक संगठन का अर्थ किसी क्षेत्र में वहां की आवश्यकताओं एवं उपलब्ध साधनों के बीच समुचित एवं प्रभावपूर्णसम्बन्ध स्थापित करके उनमें सामंजस्य स्थापित करना और इसमें जो भी कठिनाइयां व समस्यायें उत्पन्न हो उनका समाधान करना है।

कठिन शब्दों के अर्थ

- **सामुदायिक परिवर्तनः**— यह विकास, संगठन, नियोजन तथा कार्यवाही का गुच्छा है।
- **सामुदायिक संगठनः**— यह एक विश्वासपूर्ण सम्बन्धों, पारस्परिक समझ तथा भागीदारी की एक प्रक्रिया है।
- **सामुदायिक संगठन तथा समाजकार्य की अन्य विधियों के बीच सम्बन्ध**
- **सामुदायिक संगठन एवं वैयक्तिक कार्यः**— अगर समुदाय से संबंधित मुद्दों एवं समस्याओं पर जागरूकता उत्पन्न करना है तो वैयक्तिक सम्पर्क कर के सफलता प्राप्त की जाती है।
- **सामुदायिक संगठन एवं समूह कार्यः**— सामुदायिक संगठनकर्त्ता को सामुदायिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए परिवारो एवं परिवारों के समूहों के साथ कार्य करना पड़ता है और अंतर विकसित करना पड़ता है।
- **सामुदायिक संगठन तथा समाजकार्य शोध** :— शोध से संबंधित ज्ञान और कौशल पर आश्रितता होना समुदायिक संगठन की अनिवार्य शर्त है। समुदाय की खोज उसकी पहचान करना तथा उसे समझना इसके लिए समाजकार्य शोध का ज्ञान अनिवार्य है।

अभ्यास के प्रश्न

- सामुदायिक संगठन को परिभाषित करें?
- कैसे सामुदायिक संगठन के द्वारा समस्याओं को पहचाना जाता है?
- सामुदायिक विकास को समझाइए?
- सामुदायिक संगठन से क्या—क्या किया जा सकता है?

आओ करके देखें

- अपने समुदाय में एक सामुदायिक संगठन का निर्माण करें।
- सामुदायिक समस्यओं की पहचान करें।
- सामुदायिक संगठन का उपयोग समाजिक विकास के लिए करें।
- ग्रामीण विकास हेतु जनपैरवी संगठन का निर्माण करें।
- समुदाय आधारित जन संगठन जैसे– मनरेगाा निगरानी समिति, किसान समिति, महिला स्वास्थ्य समिति, किशोरी स्वास्थ्य समिति, आंगनवाड़ी निगरानी समिति इत्यादि का निर्माण कर समुदाय के विकास में उपयोग करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

1. समाज कार्य परिचय – प्रो0 राजाराम शास्त्री।
2. समाज कार्य का इतिहास एवं दर्शन – प्रो0 मिर्जा रफुद्दीन अहमद।
3. समाज कार्य – डॉ. जी. आर. मदन।
4. सामाजिक कार्य का परिचय – डॉ. धर्मपाल चौधरी।
5. नप्रो. ए.एन. सिंह – सामुदायिक संगठन उ.प्र. हिन्दी ग्रंथ संस्थान लखनऊ।
6. फ्रेडलेंडर डब्ल्यू.ए. – समाज कल्याण परिचय, उ.प्र. हिन्दी ग्रंथ संस्थान लखनऊ।
7. रांस. एम. जी. – कम्युनिटी आर्गेनाईजेशन हेट एण्ड रा, न्यूर्याक।

■■■

8.5 : मूल प्रवृत्तियाँ (Fundamental Instincts)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे कि–

- समाज कार्य के सन्दर्भ में मूल प्रवृत्तियों की पहचान क्या है?
- अभिप्रेरणा का आशय एवं उपयोगिता।
- संवेगों की पहचान एवं नियंत्रण।
- समाज कार्य के सन्दर्भ में मूल प्रवृत्तियों के अध्ययन की उपादेयता।

मूलप्रवृत्ति (Instinct)

मूल प्रवृत्तियाँ वे प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति को जन्म के समय से ही प्राप्त होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर आगे चलकर व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बनता है। इस दृष्टि से व्यक्ति या समाज की समस्याओं को समझने के साथ–साथ यदि सामाजिक कार्यकर्त्ता व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति को समझ ले तो समाधान खोजने में बहुत मदद मिलती है। मूल रूप से प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं–

मूलप्रवृत्ति

सृजनात्मक प्रवृत्ति

(1) सृजनात्मक प्रवृत्ति या जिसे एरोस (Eros) भी कहते हैं।

(2) इस प्रवृत्ति के व्यक्ति में चीजों को सहेजकर रखने की, कुछ नया करने की स्थितियों को सकारात्मक रूप से लेने की प्रवृत्ति होती है।

(3) ऐसे लोग नये अविष्कार नई सोच या नये ढंग से कार्य करने को महत्व देते हैं।

विध्वंसात्मक प्रवृत्ति

(1) विध्वंसात्मक प्रवृत्ति या जिसे थेनाटॉस (Thonastous) भी कहते हैं।

(2) विध्वंसात्मक प्रवृत्ति के लोगों में परिवर्तन की प्रधानता होती है।

(3) वे स्थितियों में बदलाव के लिये ऊर्जावान रूप में सतत् क्रियाशील रहते हैं।

(4) वे बदलाव के पक्षधर होते हैं और इसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

मानव का प्रत्येक व्यवहार इन्हीं मूल प्रवृत्तियों से नियन्त्रित होता है। इससे व्यक्तित्व की दिशा तय होती है। यही वह प्रवृत्ति है जिनके आधार पर वह व्यक्ति स्वयं और समाज को नई ऊँचाईयों पर पहुँचाता है। यदि किसी बालक में सृजनात्मक मूल प्रवृत्ति का प्रभाव अधिक है तो वह घर में, परिवार में, समाज में सभी के लिये चिंतन और सृजन पर अधिक बल देगा। इसके विपरीत जिस बालक में विध्वंसात्मक प्रवृत्ति अधिक होगी उसमें आक्रमकता, क्रोध, हिंसा जैसे भावों का प्रभाव अधिक देखने को मिलेगा।

अभिप्रेरणा क्या है? (What is Motivation)

अभिप्रेरणा का तात्पर्य गति देना, उत्तेजना देना अथवा कार्य के लिए प्रेरित करना है। इस अर्थ में कोई भी वह शक्ति जो व्यक्ति के कार्य को एक गति प्रदान करती है अथवा कार्य के लिए उसे प्रेरित करती है अभिप्रेरणा है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक अर्थ में अभिप्रेरणा का तात्पर्य केवल हमारी जीवन–रचना में विद्यमान कुछ ऐसे आन्तरिक उत्तेजकों से होता है जिनके प्रभाव से व्यक्ति कोई व्यवहार करता है। इसके विपरीत, सामाजिक, मनोविज्ञान के अन्तर्गत अभिप्रेरणा एक आन्तरिक उत्तेजक होने के साथ ही कोई वाह्य उत्तेजक भी हो सकताहै जो नियोजित रूप से व्यक्ति के व्यवहारों को निर्देशित करता हो।





क्रच तथा क्रचफील्ड ने अभिप्रेरणा की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है, कार्य की दिशा तथा दृढ़ता का अध्ययन करना ही अभिप्रेरणा का अध्ययन है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि अभिप्रेरणा ऐ ऐसी शक्ति अथवा कारक है जो व्यक्ति की क्रिया को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है तथा अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त करने तक व्यक्ति के अन्दर कार्य करने की एक ऐसी दृढ़ता प्रदान करता है जिससे व्यक्ति अपने कार्य को बीच में ही न छोड़ दे। व्यक्ति में यदि समुचित अभिप्रेरणा का अभाव होता है तब वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति से पहले ही कार्य को छोड़ देता है अथवा स्थगित कर देता है। इस प्रकरण अभिप्रेरणा का तात्पर्य किसी भी उस अभिप्रेरणा से है जो क्रिया की दिश को निर्धारित करती है और उसके प्रति व्यक्ति को दृढ़ बनाए रखती है।

जे.पी. गिलफोर्ड के अनुसार, ''**अभिप्रेरणा एक ऐसा आन्तरिक कारक अथवा दिशा है जो किसी क्रिया को आरम्भ करने तथा उसे जारी रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है।''** इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का संचालन अभिप्रेरणा द्वारा ही होता है। एक आन्तरिक कारक के रूप में अभिप्रेरणा व्यक्ति को कुछ क्रियाएँ आरम्भ करने में तथा उनके लिए सदैव प्रयत्नशील रहने को प्रेरित करती है।

किम्बाल यंग ने अभिप्रेरणा की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''जब हम यह कहते हैं कि कोइ व्यक्ति प्रेरित है, तब हमारा तात्पर्य उस अवस्था से होता है जब एक व्यक्ति किसी कार्य की ओर आगे बढ़ता है अथवा कुछ ऐसी प्रतिक्रियाओं की ओर उसे उकसाया अथवा खींचा जाता है जो तनाव या कठिनाई को दूर करती हैं और पुनः एक सन्तुलन स्थापित करती है।'' इससे स्पष्ट होता है कि अभिप्रेरणा का कार्य व्यक्ति को किसी विशेष क्रिया को उत्तेजना प्रदान करना ही नहीं है बल्कि इसका कार्य उन तनावों और कठिनाइयों को दूर करना भी है जो लक्ष्य प्राप्ति के रास्ते में बाधक होती है।

इन सभी परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि अभिप्रेरणा के तीन कार्य मुख्य हैं-- किसी क्रिया को आरम्भ करना, क्रिया को एक लक्ष्य की ओर निर्देशित करना तथा लक्ष्य--प्राप्ति तक उस क्रिया को जारी रखना।

हिलगर्ड ने अभिप्रेरणा का विश्लेषण करने के लिए इससे सम्बन्धित तीन तत्वों, का विवेचन किया है। इन्हें हम **आवश्यकता, चालक तथा उद्दीपन** कहते हैं। इन्हीं तत्वों के सहयोग से प्रेरकों का निर्माण होता है। इसीलिए अभिप्रेरणा के अर्थ को स्पष्ट करते समय अक्सर इन तीनों तत्वों का उपयोग किया जाता है। हिलगर्ड का कथन है कि ''आवश्यकता से चालकों की उत्पत्ति होती है, चालक मानसिक तनाव की वह दशा है जो व्यक्ति को कोई क्रिया करने के लिए बेचैन करती है और आवश्यकता की पूर्ति से सम्बन्धित व्यवहार को एक विशेष दिशा प्रदान करती है। उद्दीपन वाह्य वातावरण से सम्बन्धित वह विशेषता है जो व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करती है और इस प्रकार इससे चालक की सन्तुष्टि होती है।'' इससे स्पष्ट होता है कि किसी आवश्यकता से एक विशेष चालक का जन्म होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने अन्दर कोई मानसिक अथवा शारीरिक तनाव महसूस करता है। यह तनाव तभी दूर होता है जब किसी उद्दीपन के द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए भोजन, प्यास तथा काम आदि व्यक्ति की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति को जब भोजन प्राप्त नहीं हो पाता तब भूख का चालक उत्पन्न होता है। यही चालक शक्ति का वह मौलिक स्रोत है जो व्यक्ति की जीव--रचना को एक विशेष आवश्यकता को पूरा करने के लिए क्रियाशील कर देता है। बोरिंग ने लिखा है कि चालक शरीर की एक आन्तरिक क्रिया है जो व्यक्ति को एक विशेष तरह के व्यवहार के लिए अभिप्रेरणा प्रदान करती है। उद्दीपन व्यक्ति के बाह्य पर्यावरण में स्थित वह वस्तु

है जिससे किसी चालक की सन्तुष्टि होती है। उदाहरण के लिए यदि भूख एक चालक है तो भोजन उद्दीपक है क्योंकि भोजन के द्वारा ही भूख की सन्तुष्टि होती है। इस प्रकार आवश्यकता और चालक व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था का बोध कराते हैं जबकि उद्दीपन वाह्य पर्यावरण में विद्यमान होता है।

प्रेरित व्यवहार की विशेषताएँ–

अभिप्रेरणा की प्रकृति से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार अथवा क्रिया के पीछे कोई न कोई प्रेरक अवश्य होता है। यही प्रेरक व्यक्ति के व्यवहारों का संचालन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यवहार प्रेरित होते हैं। इस प्रेरित व्यवहार की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है।

- प्रेरित व्यवहार लक्ष्योन्मुख होता है।
- प्रेरित व्यवहार में लक्ष्य–प्राप्ति की बेचैनी होती है।
- प्रेरित व्यवहार में निरन्तरता होती है।
- प्रेरित व्यवहार सक्रिय और जाग्रत होता है।
- शक्ति तथा कार्य क्षमता का समावेश होता है।
- प्रेरित व्यवहार चयनात्मक होता है।
- प्रेरित व्यवहार में परिवर्तनशीलता होती है।
- प्रेरित व्यवहार में क्षीणता होती है।

अभिप्रेरणाओं के प्रकार

अभिप्रेरणाएं दो प्रकार की होती हैं:–

1. **जन्मजात अभिप्रेरणाएँ**– इनके अन्तर्गत वे मूल प्रवृत्तियाँ आती हैं ज़ो व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती है। भूख–प्यास, भय, काम तथा जीवन–रक्षा आदि इसी तरह के प्रेरक हैं।
2. **अर्जित अभिप्रेरणाएँ**– इनमें वे अभिप्रेरक आते हैं जो व्यक्ति के द्वारा अर्जित चारित्रिक गुणों से सम्बन्धित होते हैं।

जैविक प्रेरणाएँ–

इन प्रेरकों को जन्मजात, प्राथमिक तथा बिना सीखे हुए प्रेरक के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है इन प्रेरकों का सम्बन्ध उन जैविकीय आवश्यकताओं से है जो व्यक्ति को जीवित रखने के लिए आवश्यक होती हैं। ऐसे प्रेरक पशुओं तथा मनुष्यों से बहुत कुछ समान रूप से पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए भूख, प्यास, काम की इच्छा आदि जैविकीय आवश्यकताएँ हैं जिन्हें सीखने की जरूरत नहीं होती है। यह सच है कि जैविकीय प्रेरक जन्मजात और स्वभाविक होते हैं। फिर भी यह सामाजिक–सांस्कृतिक दशाओं के प्रभाव से पृथक नहीं होते। उदाहरण के लिए भूख लगने पर भी एक शाकाहारी व्यक्ति माँसाहारी भोजन को देखकर उसे खाने के लिए क्रियाशील नहीं होगा। इसी तरह कामवासना का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकता से होने के बाद भी इस पर सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों और व्यक्तिगत अभिरूचियों का प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टिकोण से शेरिफ ने जैविक प्रेरकों के अन्तर्गत अनेक मुख्य प्रेरकों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है–

1. **भूख–** भूख एक प्रमुख जैविकीय आवश्यकता है जिसकी पूर्ति किए बिना व्यक्ति के लिए जीवित रहना असम्भव होता है। व्यक्ति को जब एक लम्बे समय तक भोजन नहीं मिलता तो उसके आमाशय में पीड़ा की अनुभूति होने लगती है। इससे व्यक्ति शीघ्र ही कुछ क्रियाएँ करने के लिए बाध्य हो जाता है। भूख के कारण व्यक्ति में बेचैनी बढ़ती है जिसके फलस्वरूप उसका शारीरिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। यह दशा व्यक्ति में भोजन प्राप्त करने की क्रिया को बढ़ाती है और इस तरह भूख की अभिप्रेरणा तीव्र हो उठती है। पशुओं पर किए गये अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि यदि इन्हें भोजन न दिया जाये तो उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती है और यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कि उन्हें भोजन न मिल जाय। भूख मिटाने के लिए खाद्य–पदार्थों का चुनाव भी स्वाभाविक होता है लेकिन यह चुनाव भूख की मात्रा पर निर्भर करता है। कम भूख से पीड़ित व्यक्ति खाने के चुनाव में स्वाद, गन्ध और रूचि पर ध्यान केन्द्रित करता है लेकिन भूख की मात्रा बढ़ जाने पर इन विशेषताओं का कोई महत्व नहीं रह जाता। कहावत है, 'भूख न जाने सूखी रोटी, नींद न जाने टूटी खाट।' भूख कभी–कभी व्यक्ति को गैर–कानूनी और समाज–विरोधी कार्य करने के लिएभी बाध्य कर देती है। सूखा और प्राकृतिक विपदाओं के समय इस तरह के बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं। भूख व्यक्ति पर अनेक तरह से प्रभाव डालती है। भूखा व्यक्ति किसी भी तरह का कार्य करने में रूचि नहीं लेता। स्याही के धब्बों द्वारा किए जाने वाले मनोवैज्ञानिक परीक्षण द्वारा जब एक भूखे व्यक्ति से यह पूछा गया कि स्याही के

धब्बों में उसे कौन–सी आकृति दीख रही है तो उसने अपनी प्रतिक्रिया को 'रोटी की आकृति' के विषय में प्रस्तुत किया। स्पष्ट है कि भूख एक महत्वपूर्ण जैविक अभिप्रेरक है।

2. **प्यास**–भूख के समान प्यास भी व्यक्ति की एक शारीरिक आवश्यकता होती है तथा एक जैविकीय प्रेरक के रूप में यह भूख से भी अधिक प्रभावशाली होती है। प्यास की उत्पत्ति शरीर में पानी के अभाव के कारण होती है। एक व्यक्ति कुछ दिनों तक भूखा तो रह सकता है लेकिन अधिक दिनों तक प्यासा नहीं रह सकता। वास्तव में प्यास की अभिप्रेरणा मुँह और गले के सूख जाने से उत्पन्न होती है। प्यास भी मनुष्य को एक क्रिया आरम्भ करने के लिए प्रेरित करती है और जब तक इसकी तृप्ति नहीं हो जाती तब तक उसकी बेचैनी बढ़ती रहती है। इसके बाद भी प्यास की अभिप्रेरणा कुछ सीमा तक सामाजिक सीख से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए एक बच्चा अपेन आरम्भिक जीवन से यह सीखने लगता है कि उसे किस तरह का पानी पीना चाहिए, किस बर्तन से पीना चाहिए तथा कहाँ से उपलब्ध हो सकता है आदि। कुछ दशाओं में जब पानी की दुर्लभता के कारण प्यास की अभिप्रेरणा बहुत तीव्र हो जाती है तब पानी से सम्बन्धित निषेधों अथवा सामाजिक सीख का प्रभाव समाप्त हो जाता है एवं व्यक्ति कैसे भी अपनी सन्तुष्टि करने का प्रयत्न करता है।

3. **काम**-- फ्रायड तथा अनेक दूसरे मनोविश्लेषणवादियों ने काम की अभिप्रेरणा को सबसे अधिक गहन और महत्वपूर्ण प्रेरक माना है। इस अभिप्रेरणा का आधार पुरूषों तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियों से स्रावित होने वाले हारमोन हैं। मनुष्य के विकास के साथ उसकी यौन इन्द्रियाँ भी विकसित होती हैं जो काम की अभिप्रेरणा को जन्म देती हैं। यही कारण है कि आयु के परिवर्तन के साथ ही काम–अभिप्रेरणा में परिवर्तन होता रहता है। कम आयु में काम की इच्छा दबी रहती है लेकिन युवावस्था में यह अभिप्रेरणा तीव्र हो जाती है और वृद्धावस्था में इसका प्रभाव कम हो जाता है। यह सच है कि काम की अभिप्रेरणा भी सामाजिक निषेधों, नियमों, प्रथाओं और परम्पराओं से प्रभावित होती है लेकिन इसका आवेग कभी–कभी व्यक्ति को इतना अनियंत्रित बना देता है कि वह भले--बुरे का ध्यान किए बिना भी इसकी पूर्ति करने का प्रयत्न करने लगता है।

उपर्युक्त जैविक प्रेरकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रेरकों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो व्यक्ति की जन्मजात शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए निद्रा थकान से प्रभावित प्रतिक्रिया है। नींद के बिना व्यक्ति एक लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सकता। अनेक अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि हो चुकी है कि अधिक समय तक जागते रहने वाले व्यक्तियों की रूचि और उत्साह में कमी आने लगती है। इसी तरह प्रेम भी एक जन्मजात प्रेरक है जिसके कारण व्यक्ति तनाव और बेचैनी अनुभव करने लगता है। इसकी पराकाष्ठा व्यक्ति को अक्सर विक्षिप्त

और पागल बना देती है। इसके अतिरिक्त पलायन, प्रभुत्व तथा संघर्ष आदि भी मूलप्रवृत्ति के रूप में कुछ जन्मजात प्रेरक हैं जो तरह–तरह के मानव व्यवहारों को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक अभिप्रेरणाएँ

सामाजिक प्रेरक का तात्पर्य उन प्रेरकों से है जिन्हें वातावरण के प्रभाव से सीखा जाता है। इन्हें व्यक्ति जन्म से प्राप्त न करके सामाजिक सीख के द्वारा प्राप्त करता है। इसी कारण इन्हें अर्जित प्रेरक कहा जाता है। जन्म से एक बच्चा जैविकीय विरासत का अंग होता है लेकिन समाजीकरण अथवा सामाजिक सीख के द्वारा उसमें अनेक समाजजनित प्रेरक जन्म लेते हैं। यह वे प्रेरक हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस सम्बन्धित में शेरिफ तथा शेरिफ ने लिखा है, ''सामाजिक प्रेरक वे होते हैं, जो मनुष्य द्वारा उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से प्राप्त किए जाते हैं।'' सामाजिक प्रेरकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– सामान्य सामाजिक प्रेरक तथा वैयक्तिक सामाजिक प्रेरक। इन दोनों से सम्बन्धित प्रेरकों की संख्या बहुत अधिक है लेकिन सुविधा के लिए कुछ प्रमुख अभिप्रेरकों को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

सामान्य सामाजिक प्रेरक– सामान्य सामाजिक प्रेरकों से तात्पर्य उन प्रेरकों से है जो व्यक्ति को एक विशेष सामाजिक व्यवहार के लिए प्रोत्साहित करते हैं। यह प्रेरक प्रायः सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से विद्यमान रहते हैं। इनकी संख्या के विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद हैं, फिर भी कुछ प्रमुख सामान्य सामाजिक प्रेरक इस प्रकर हैं–

1. **उपलब्धि की प्रवृत्ति।**
2. **शक्ति की प्रवृत्ति।**
3. **संबंधन की प्रवृत्ति।**
4. **सहमति की प्रवृत्ति।**

ख. वैयक्तिक सामाजिक प्रेरक– व्यक्तिगत सामाजिक अभिप्रेरणाएँ अथवा प्रेरक वे होते हैं जिन्हें व्यक्ति समाज में रहते हुए विकसित करता है तथा जो व्यक्तित्व का एक तत्व बन जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत इच्छाएँ, मनोवृत्तियाँ, आदतें, आकांक्षाएँ तथा जीवन के कुछ लक्ष्य होते हैं। यह सभी वैयक्तिक प्रेरक हैं जो

प्रत्येक व्यक्ति में एक जैसे नहीं होते। इन वैयक्तिक सामाजिक अभिप्रेरणाओं को निम्नांकित रूपों से समझा जा सकता है।

1. **जीवन–लक्ष्य**–समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के कुछ विशेष लक्ष्य होते हैं जिन्हें व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इन लक्ष्यों का निर्धारण बाल्यावस्था से ही होने लगता है। इनके निर्धारण में परिवार, पड़ोस, मित्रों तथा शिक्षकों आदि का विशेष योगदान रहता है। यदि कोई व्यक्ति एक वैज्ञानिक, डॉक्टर, सैनिक, इंजीनियर, प्राध्यापक अथवा नेता बनना चाहता है तो यह उसके जीवन का लक्ष्य होता है तथा व्यक्ति जीवन के आरम्भ से ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगता है।

2. **आदतें**– किसी क्रिया को बार–बार दोहराने से एक विशेष आदत का जन्म होती हैं। आदतें अर्जित होती हैं और व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करने की अभिप्रेरणा देती है। यह आदतें अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की हो सकती हैं। अच्छी आदतों से व्यक्ति को जहाँ प्रशंसा, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होता है, वहीं बुरी आदतों के कारण वह अक्सर निन्दा और उपहास का पात्र बन जाता है।

3. **आकांक्षा**– आकांक्षा का सम्बन्ध एक ऐसे इच्छित उद्देश्य से है जो किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है। आकांक्षाओं का निर्माण भी बाल्यावस्था से ही होने लगता है तथा आयु बढ़ने के साथ इनमें वृद्धि होती रहती है। सामाजिक परिवेश से प्रभावित होने के बाद भी आकांक्षाओं की प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी की आरम्भिक आकांक्षा आई0ए0एस0 इसी तरह के उच्च पद को प्राप्त करने की होती है लेकिन जब उसकी यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती तो वह कोई साामन्य नौकरी की आकांक्षा से भी समझौता कर लेता है। आकांक्षा का स्तर जितना उच्च होता है उसे प्राप्त करने की क्रियाएँ उतनी ही अधिक प्रेरित होती हैं। इसके विपरीत, आकांक्षा का स्तर निम्न होने से व्यक्ति में अभिप्रेरणा का स्तर भी निम्न हो जाता है।

4. **अभिरूचि**– अभिरूचि का सम्बन्ध व्यक्ति की पसन्द से है तथा इसकी प्रकृति सकारात्मक होती है। जिस वस्तु में व्यक्ति की जितनी अधिक अभिरूचि होती है, उसे प्राप्त करने के लिए वह उतना ही अधिक प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, किसी वस्तु में अभिरूचि न होने पर व्यक्ति उसके प्रति उदासीन हो जाता है। स्पष्ट है कि अभिरूचि एक विशेष वैयक्तिक प्रेरक है, जो व्यक्ति की क्रियाओं और व्यवहारों को प्रभावित करता है।

5. **मनोवृत्तियाँ**– किसी सामाजिक तथ्य अथवा व्यक्ति के प्रति हम जिन धारणाओं अथवा सुझावों को विकसित कर लेते हैं, वही हमारी मनोवृत्ति होती है। व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के आधार पर ही किसी व्यक्ति, परिस्थिति अथवा वस्तु के बारे में विचार करता है तथा उसका मूल्यांकन करता है। यह मनोवृत्तियाँ सकारात्मक भी होती हैं तथा नकारात्मक भी। जिस वस्तु के बारे में हमारी मनोवृत्ति सकारात्मक होगी, उस वस्तु को हम प्राप्त करना चाहेंगे जबकि मनोवृत्ति नकारात्मक होने पर हम उस वस्तु से दूर रहना चाहेंगे।

6. **अचेतन अभिप्रेरणा**– अचेतन अभिप्रेरणा भी एक वैयक्तिक सामाजिक प्राणी है जो व्यक्ति के पूर्ण और अपूर्ण लक्ष्यों अथवा इच्छाओं के अनुसार उसके अचेतन मन में दबी रहती है। इस अभिप्रेरणा की ओर सर्वप्रथम फ्रायड ने हमारा ध्यान आकर्षित करके यह स्पष्ट कियां कि अक्सर व्यक्ति को स्वयं यह ज्ञात नहीं होता कि वह एक विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों कर रहा है। वास्तव में ऐसे व्यवहार अचेतन अभिप्रेरणाओं से ही संचालित होते हैं। अचेतन अभिप्रेरणाएँ सामान्यतः जीवन की किसी विशेष घटना अथवा अनुभव का परिणाम होती हैं तथा एक लम्बा समय बीत जाने के बाद भी व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करने में इनका प्रभाव बना रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव व्यवहार को अनेक जैविक तथा सामाजिक प्रेरक प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के व्यवहार चाहे समाज के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, प्रत्येक व्यवहार का संचालन किसी न किसी प्रेरक का ही परिणाम होता है।

अभिप्रेरणा के कुछ सिद्धान्त

अभिप्रेरणा के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को हम यहाँ विस्तार से स्पष्ट कर रहे हैं। जिनके व्यावहारिक उपयोग से आप व्यक्ति और समूह को अभिप्रेरित करने के उपाय खोज सकेंगे।

1. मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक फ्रायड हैं। फ्रायड ने अपने मूलप्रवृत्ति के सिद्धान्त के आधार पर मानसिक विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए अभिप्रेरणा के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। मूलप्रवृत्तियों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि मूलप्रवृत्तियाँ मानसिक जीवन से सम्बन्धित दैहिक माँगे हैं तथा यही मानव की समस्त क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। मूलप्रवृत्ति–सिद्धान्त के अनुसार प्राणियों के सभी व्यवहार उनकी जन्मजात प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं। वास्तव में हमारे जीवन का उद्‌देश्य कुछ आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। आन्तरिक आवश्यकताएँ

ही व्यक्ति में अनेक तनाव उत्पन्न करती है तथा व्यक्ति इसी के फलस्वरूप मूल–प्रवृत्यात्मक व्यवहार करता है। इसके बाद भी समाज में प्रचलित विभिन्न नियमों के कारण मनुष्य अपनी अनेक इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाता और इस प्रकार उसे अपनी मूलप्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करना पड़ता है। यह दशा व्यक्ति के मन में एक निराशा पैदा करती है। यह निराशा व्यक्ति के अचेतन मन में चली जाती है तथा अवसर पाकर व्यवहार के किसी अन्य रूप में अभिव्यक्त होती है। स्वप्न, दिवा–स्वप्न तथा विभिन्न प्रकार के मनोविकार इसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं जिन्हें दमन की गयी प्रवृत्तियों के रूपान्तरित व्यवहार कहा जा सकता है।

अभिप्रेरणा के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए फ्रायड ने मानव–मन के उन संरचनात्मक पक्षों का उल्लेख किया जो मूलप्रवृत्तियों को क्रियाशील बनाते हैं। फ्रायड ने बताया कि मानव मन के आकार के तीन प्रमुख पक्ष होते हैं– क. चेतन मन, ख. अर्द्ध–चेतन मन तथा अचेतन मन। **चेतन–मन** मस्तिष्क का वह भाग है जो तात्कालिक दशाओं से समबन्धित होता है। यह किसी भी व्यवहार को करते समय व्यक्ति को जाग्रत अवस्था में रखता है तथा उसे तर्क–बुद्धि प्रदान करता है।

अर्द्ध–चेतन मन वह पक्ष है जिससे सम्बन्धित विचार और इच्छाएँ व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं लेकिन इसकी तात्कालिक जानकारी व्यक्ति को नहीं होती। इसके बाद भी कुछ प्रयास करने पर वह अर्द्ध–चेतन मन में स्थित विचारों और इच्छाओं को अपनी स्मृति में ला सकता है।



इस सिद्धान्त के अनुसार मानव मन के संरचनात्मक पक्षों के साथ ही मानव–मन का एक गत्यात्मक पक्ष भी होता है। इस गत्यात्मक पक्ष को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हें इड्, ईगो तथा सुपर ईगो कहते हैं।

इड मन की वह अचेतन शक्ति है जो व्यक्ति को सुख प्राप्त करने की अभिप्रेरणा देती है चाहे वह किसी भी तरह प्राप्त किया जाय। इससे सुख का अनुभव होता है। ईगो, वास्ताविकताक के सिद्धान्त से चलता है तथा सुपर ईगो आदर्श की बात करता है तथा आदर्श स्थापना के लिए कार्य भी करता है।

3. आत्म–कार्यान्वयन का सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक मैसलो हैं। व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने वाली सर्वप्रमुख अभिप्रेरणा उसकी आवश्यकताएँ हैं। आरम्भ में व्यक्ति की आवश्यकताएँ कम होती हैं लेकिन धीरे–धीरे इनकी संख्या बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की विभिन्न आवश्कयताओं का विकास एक निश्चित श्रृंखला में होता है। इस श्रृंखला को मैसलो ने पाँच आवश्यकताओं के द्वारा एक उद्–विककासीय क्रम में स्पष्ट किया जो इस प्रकार है–

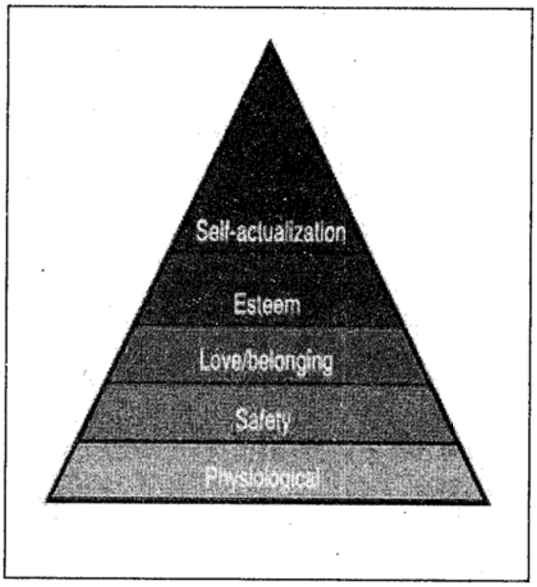
क. **शारीरिक आवश्यकताएँ**– व्यक्ति की सबसे पहली आवश्यकता शारीरिक है जिसके द्वारा वह भूख, प्यास तथा काम आदि का अनुभव करता है। यह आवश्यकताएँ उसकी बुनियादी आवश्यकताएँ हैं जिनकी सन्तुष्टि का प्रयत्न वह सबसे पहले करना चाहता है।

ख. **सुरक्षा की आवश्यकता**– व्यक्ति की जब शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तब उसमें शरीर को स्वस्थ और सुरक्षित रखने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। वह अनेक ऐसे व्यवहार करने लगता है जिससे उसकी सुरक्षा सम्बन्धी यह आवश्यकता पूरी हो सके।

ग. **अपनत्व एवं प्रेम की आवश्यकता**– मैसलो के अनुसार आवश्यकताओं के विकास की कड़ी में दूसरों से अपनत्व, प्रेम और स्नेह पाने की आवश्यकता का तीसरा स्थान है। व्यक्ति की जब पहली दोनों आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तब स्वयं ही उसमें अपनत्व और प्रेम की आवश्यकता कार विकास होने लगता है जो उसके व्यवहारों को प्रभावित करती है।

घ. **सम्मान की आवश्यकता**– प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह में प्रतिष्ठ, सम्मान और सफलता प्राप्त करना चाहता है। इस आवश्यकता का विकास तभी होता है जब इससे पहले की तीन आवश्यकताएँ किसी न किसी अंश तक पूर्ण हो जाती है।

ड. **आत्म–कार्यान्वयन की आवश्यकता**– इस आवश्यकता अथवा अभिप्रेरणा का विकास सबसे बाद में होता है। इसका सम्बन्ध वैयक्तिक विकास, स्वयं की इच्छाओं की पूर्ति तथा उन क्षमताओं के विकास से है, जो व्यक्तित्व को अधिक सफल बनाने के लिए जरूरी होती है।



इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को सबसे पहले भोजन की आवश्यकता होती है और इसकी पूर्ति हो जाने के बाद एक निश्चित क्रम में उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस क्रम में आत्म–कार्यान्वयन की आवश्यकता का विकास सबसे बाद में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शारीरिक आवश्यकताएँ सबसे निम्न लेकिन बुनियादी होती है जबकि आत्म–कार्यान्वयन की आवश्यकता सबसे उच्च दशा को स्पष्ट करती है। जैसे–जैसे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से विकसित होता जाता है, उसकी आवश्यकताओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। यह दशा एक विशेष अभिप्रेरणा है जो न केवल मानव व्यवहारों को प्रभावित करती है बल्कि मावन व्यवहारों की प्रकृति में परिवर्तन भी लाती रहती है।

मैसलो के इस सिद्धान्त की भी अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि आवश्यकताओं के विकास का यह क्रम केवल एक विश्वास है जिसे प्रयोगों के द्वारा सिद्ध कर सकना बहुत कठिन है। दूसरी ओर अनेक मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि मनुष्य के मनोविज्ञान को समझने के लिए मैसलों ने एक ऐसा आधार प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों में होने वाले परिवर्तन को सरलता से समझा जा सकता है।

4. अभिप्रेरणा का संज्ञानात्मक सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त का विकास टॉलमैन तथा लेविन द्वारा किये गये अध्ययनों के आधार पर हुआ। यह सिद्धान्त बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाओं और निर्णयों का चयन व्यक्तिगत ज्ञान और संज्ञान के आधार पर करता है। इसे स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त दोनों मनोवैज्ञानिकों ने शक्ति को मानव व्यवहारों का स्रोत स्वीकार किया। एक ओर टॉलमैन ने यह स्वीकार किया कि कुछ आन्तरिक अवस्थाएँ जैसे व्यक्ति की आवश्यकताएँ तथा उत्प्रेरकों के उद्दीपन शक्ति का स्रोत होते हैं जबकि दूसरी ओर लेविन ने आवश्यकताओं के कारण व्यक्ति के अन्दर उत्पन्न होने वाले तनावों को शक्ति के स्रोत के रूप में स्वीकार किया। शक्ति का यह स्रोत जो भी हो, यह शक्ति ही लक्ष्यों के निर्धारण में सहायक होती है। एक बार व्यक्ति जब अपने लक्ष्य निर्धारित कर लेता है तब उन्हें प्राप्त करने के लिए वह अपने क्रियाएँ करता है। इन्हीं क्रियाओं से उसकी उत्तेजना अथवा तनावों में कमी होती है। व्यक्ति जब भी कोई कार्य करता है तो इस कार्य को करने के लिए उसे शक्ति अथवा ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा उस व्यक्ति की आवश्यकताओं और उत्प्रेरकों के उद्दीपन से प्रेरित होती है।

अभिप्रेरणा की व्याख्या में इस सिद्धान्त को इसलिए अधिक महत्व नहीं दिया जाता कि इसके द्वारा मानव–व्यवहारों को प्रभावित करने वाले आधारों को वस्तुनिष्ठ रूप से समझ सकना बहुत कठिन है। संज्ञान स्वयं इतनी तुलनात्मक अवधारणा है कि इसके आन्तरिक उद्दीपनों को समझ सकना बहुत कठिन है।

मानव व्यक्तित्व के विकास में अभिप्रेरणा की भूमिका–

मानव व्यक्तित्व का निर्माण करने तथा उसे विकसित करने में अभिप्रेरणा की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि अभिप्रेरणा व्यक्ति की क्रियाओं को न केवल संचालित और नियंत्रित करती है बल्कि उन्हें निर्देशित और रूपान्तरित करके एक सही दिशा भी प्रदान करती है।

मानव व्यक्तित्व के विकास में जैविक तथा सामाजिक प्रेरकों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। यह सच है कि समकालीन समाज मनोवैज्ञानिक मानव व्यक्तित्व के विकास में जैविक प्रेरकों को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते लेकिन व्यक्तित्व के विकास के लिए आरम्भिक सुविधाएँ प्रदान करने में इनकी निश्चय ही एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि व्यक्ति की जैविकीय आवश्यकताएँ समुचित ढंग से पूर्ण नहीं हो पाती तो उसका व्यक्तित्व सन्तुलित रूप से विकसित नहीं हो पाता। इसके बाद भी आज अधिकांश समाज मनोवैज्ञानिक मानव व्यक्तित्व को उसके परिवेश की उपज मानते हैं जो अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित होता है।

संवेग (Emotions)

इकाई के इस भाग में हम आपको कुछ मानवीय संवेगों के बारे में बता रहे है। जिनके अध्ययन से आपको व्यक्ति और समाज के व्यवहार को स्पष्टता से समझने में मदद मिलेगी।

संवेग का अर्थ

क्रोध, भय (डर), खुशी हमारे जीवन के प्रमुख संवेग है। 'संवेग' पद का अंग्रेजी रूपान्तर Emotion है जो लैटिन शब्द से बना है और जिसका अर्थ उत्तेजित करना होता है। इस शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए तब यह कहा जा सकता है कि संवेग व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था का दूसरा नाम है। इंगलिश तथा इंगिलश के अनुसोर, "संवेग एक जटिल भाव की अवस्था होती है। जिसमें कुछ खास–खास शारीरिक एवं ग्रन्थीय क्रियाएँ होती है।"

बेरोन, बर्न तथा कैन्टोविज[3] के अनुसार, "संवेग से तात्पर्य एक ऐसे आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होती है जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजन पैदा होता है फिर जिसमें कुछ खास–खास व्यवहार होते हैं।"

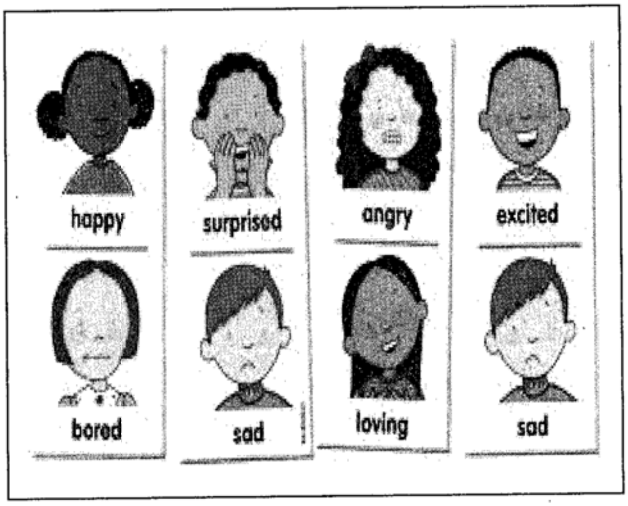
1. संवेग की अवस्था में बहुत तरह के शारीरिक परिवर्तन सम्मिलित होते हैं। इसमें व्यक्ति की उत्तेजनशीलता का स्तर काफी बढ़ जाता है तथा प्राणी अपने पूरे शारीर में एक उपद्रव महसूस करता है।

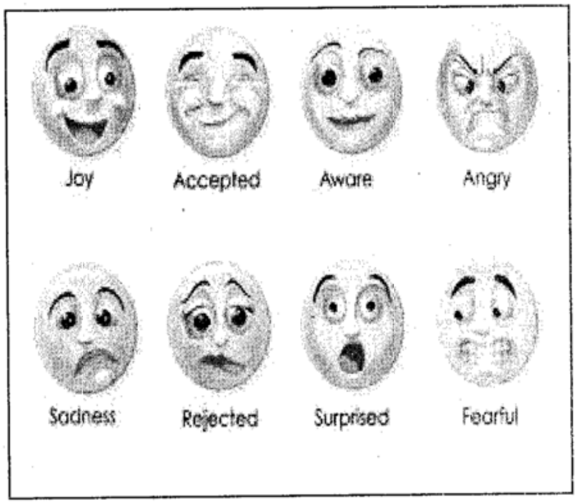
2. संवेग का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू उसमें होने वाली आंगिक प्रतिक्रियाएँ है। प्रत्येक संवेग में कुछ भीतरी या आंगिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस अवस्था में शरीर के भीतरी अंगों जैसे ह्रदय, आंत, फेफडा, ग्रन्थियाँ आदि में कुछ विशेष प्रतिक्रियाएँ होती हैं। जैसे, क्रोध की गति तेजी हो जाती है आदि–आदि। भिन्न–भिन्न संवेग में शरीर के भीतर अंगों में भिन्न–भिन्न तरह के परिवर्तन तथा श्वसन परिवर्तन ह्रदय की गति में परिवर्तन तथा रक्त चाप में परिवर्तन रक्तवाह के उदाहरण हैं तथा सांस की गति में परिवर्तन श्वसन परिवर्तन के उदाहरण हैं। इन सभी दैहिक परिवर्तनों को संवेग का दैहिक तत्व कहा गया है।

3. संवेग में कुछ अभिव्यंजन व्यवहार भी होते हैं संवेग की अवस्था में शरीर के भीतर अंगों के कार्यो में ही सिर्फ परिवर्तन नहीं होता है बल्कि शरीर के बाहरी अंगों जैसे हाथ, पैर, आंख, चेहरे आदि में भी कुछ परिवर्तन होते हैं जिन्हें देखकर हम समझ जाते हैं कि व्यक्ति संवेग की स्थिति में हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने शरीर के बाहरी अंगो में परिवर्तन लाकर व्यक्ति संवेग की अभिव्यक्ति करता है । यही कारण है कि हम प्रायः देखते है कि क्रोध की अवस्था में व्यक्ति का चेहरा लाल, भौं चढ़ा हुआ, होंठ कांपता हुआ तथा भुजाएँ फडकती हुई दिखलाई देती

हैं। इन अभिव्यंजनक व्यवहार को देखकर हम आसानी से यह समझ लेते हैं कि व्यक्ति क्रोध की अवस्था में हैं। इन सभी को संवेग का व्यवहारपरक तत्व कहा गया है।

4. संवेग में किसी न किसी तरह आत्मनिष्ठ भाव अवश्य होता है प्रत्येक संवेग में किसी न किसी प्रकार का भाव अवश्य छिपा होता है। सामान्यतः संवेग में सुखद या दुःखद भाव की अनुभूति पायी जाती है। भय में दुःखद भाव की अनुभूति तथा खुशी में सुखद भाव की अनुभूति ।यही बात अन्य संवेगों की स्थिति में भी पायी जाती है। कोई भी संवेग ऐसा नहीं होता है कि एक ही साथ एक ही व्यक्ति में एक ही समय में सुखद तथा दुःखद दोनों भाव की अनुभूति को जन्म दें। अतः कोई भी संवेग बिना भाव को नहीं हो सकता है और यदि कोई स्थिति ऐसी होगी भी तो उसे संवेग नहीं कहा जायेगा।



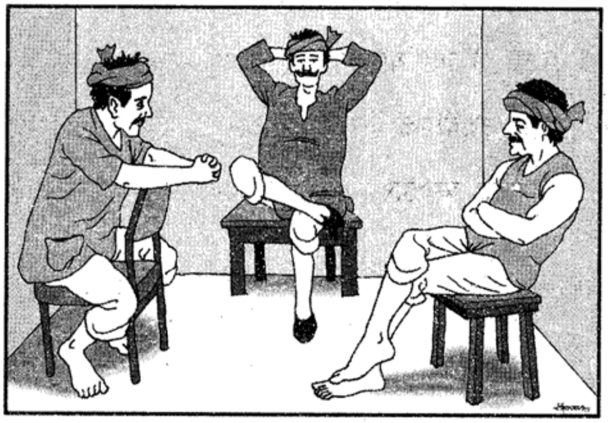


संवेग की विशेषताएँ

संवेग की अभिव्यक्ति को छिपाया जा सकता है। प्रायः ऐसे लोग मिल जाते हैं जो ऊपर से तो संवेग नहीं दिखलाते हैं परन्तु भीतर से उनमें तीव्र संवेग होता है। जैसे, ऊपर से ऐसे व्यक्ति हंसकर बोलते हैं परन्तु से क्रोधित हो सकते हैं। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिकों ने संवेग के कुछ ऐसे गुणों का वर्णन किया है जिसके आधार पर करीब–करीब सभी तरह के संवेगों को ठीक ढंग से समझा जा सकता है तथा उसका अध्ययन भी क्रिया जा सकता है। सिल्भरमैन के अनुसार संवेग की ऐसी निम्नांकित चार विशेषताएँ हैं–

1. **संवेग विकीर्ण होता है–** संवेग में विकीर्णता से मतलब इस बात से होता है कि सांवेगिक उद्दीपक पूरे शरीर की क्रियाओं में एक तरह का परिवर्तन या तनाव लाता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जाता है कि संवेग में शरीर

के किसी एक भाग में नहीं बल्कि पूरे शरीर में एक तरह का तनाव फैल जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि संवेग की स्थिति में शरीर के भीतर अंगों की क्रियाओं में थोडी देर के लिए परिवर्तन हो जाता है जिसका प्रभाव स्वभावतः पूरे शरीर में होता है। संवेग कई तरह के होते हैं और प्रत्येक संवेग में इस तरह के तनाव की विकीर्णता का स्वरूप अलग–अलग होता है। यहाँ तक कि एक ही संवेग में भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में तनाव की विकीर्णता अलग–अलग होता है। यहाँ तक कि एक ही संवेग में भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में तनाव की विकीर्णता अलग–अलग होती है। जैसे, कोई व्यक्ति क्रोधित होने पर काफी उत्तेजित हो जाता है, उसके होंठ, पैर, हाथ आदि कांपने लगते है जबकि कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो क्रोध की अवस्था में सिर्फ आवाज ऊंचा कर बोलते है। और में भी तनाव की विकीर्णता या फैलाव पूरे शरीर में होता है। अतः सभी संवेगों में विकीर्णता पायी जाती है।



2. **संवेग सतत होता है संवेग में सातत्य या निरंतरता का गुण होता है :** जब भी कोई संवेग उत्पन्न होता है, उद्दीपक (जिससे संवेग उत्पन्न हुआ है) के हट जाने के बाद भी कुछ देर तक व्यक्ति में संवेग बना होता है। उदाहरणस्वरूप, मान जीजिए कि कोई व्यक्ति के सामने अचानक साँप आ जाता है जिसे देखकर स्वभावतः उसमें डर का संवेग उत्पन्न हो जायेगा। सांप उस व्यक्ति को देखकर कहीं छिप जाता है या कुछ दूर चला जाता है। ऐसी परिस्थिति में जब कि सांप व्यक्ति के समाने से हट गया है, फिर भी डर का संवेग व्यक्ति में कुछ समय तक बना रहेगा। ऐसा नहीं होता है कि सांप उधर आंख से ओझल हुआ और उधर व्यक्ति से भय का संवेग भी समाप्त हो गया। अतः संवेग में उद्दीपक के हट जाने के बावजूद भी कुछ समय तक निंरतरता बने रहने का मूल कारण शरीर के भीतरी अंगों की चिकनी मांसपेशियों तथा उसका कार्य है। इन मांसपेशियों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि वे जल्दी किसी उद्दीपक की बनावट द्वारा उत्तेजित नहीं होती है और

यदि उत्तेजित हो गयी तो फिर सामान्य अवस्था में आने में कुछ समय लगता है। यह समय जितना अधिक होगा, संवेग निरंतरता भी उतनी ही अधिक होगी।

3. **संवेग संचयी होता है :** संवेग में संचयी का गुण होता है इसका मतलब यह हुआ कि कोई संवेग जब एक बार उत्पन्न हो जाता है तो थेडी देर के लिए उत्तरोत्तर वह अपने आप ही बढ़ते ही चला जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि संवेग व्यक्ति में एक खास प्रकार की मानसिक तत्परता उत्पन्न कर देता है जिससे व्यक्ति उसी दिशा में प्रतिक्रिया और भी अधिक करना चाहता है।

4. **प्रायः संवेग का स्वरूप अभिप्रेरणात्मक होता है :** संवेग की इस विशेषता पर विटेकर एवं मार्गन, किंग तथा रांबिन्सन ने भी अधिक बल डाला है। प्रायः देखा गया है कि जब व्यक्ति में तीब्र संवेग उत्पन्न होता है तो उसका व्यवहार किसी लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसित होता है। जैसे, यदि कोई व्यक्ति किसी परिस्थिति में काफी डर गया है तो वैसी हालत में वह या तो वहां से भाग जायेगा या अपने आप को कही ऐसी जगह छुपा लेगा कि डर उत्पन्न करने वाला उद्दीपक उस दिखलाई ही नहीं पडेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संवेग में व्यक्ति कोई न कोई व्यवहार अवश्य ही ऐसा करता है जो किसी खास लक्ष्य की ओर निर्देशित होता है।

संवेग का विकास

आज–कल मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया है कि संवेग के विकास में मूल रूप से निम्नांकित दो कारकों का अधिक महत्व है–

1. परिपक्वता
2. सीखना

इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित है–

1. परिपक्वता

परिपक्वता एक महत्वपूर्ण कारक है जो संवेग के विकास को प्रभावित करता है। सार्टेन तथा उनके सहायोगियों के अनुसार "जीव में विकास तथा वर्धन का पूरा होना परिपक्ता कहलाता है।" प्राणी के अंगों का वर्धन तथा विकास

जब पूरा हो जाता है तो ऐसा कहा जाता है कि उसके अंग परिवक्व हो गये हैं। ऐसा देखा गया है कि जन्म के बाद से परिपक्वता की क्रिया काफी तेज से बढ़ती है और जैसे–जैसे परिपक्वता बढ़ते जाती हैं, वैसे–वैसे शिशुओं में नये–नये संवेग भी विकसित होते जाते है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के बीच इस बात की पूरी सहमति है कि जन्म के समय शिशुओं में सिर्फ सामान्य उत्तेजन पाया जाता है, जिससे बाद में, जैसे–जैसे परिपक्वता बढ़ती जाती है, अन्य तरह–तरह के संवेग भी विकसित होते जाते है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख अध्ययन एक महिला वैज्ञानिक जिनका नाम ब्रिजेज है, द्वारा किया गया। ब्रिजेज ने इस अध्ययन में जन्म से लेकर 2 साल के उम्र तक के शिशुओं में संवेग का अध्ययन किया। इनके अनुसार नवजात शिशु में सिर्फ सामान्य उत्तेजना पाया जाता है, किसी प्रकार का संवेग नहीं। 3 महीना के उम्र होने पर सामान्य उत्तेजना से दो संवेग विकसित होते हैं हर्ष तथा व्यथा। 6 महीना के उम्र होने पर व्यथा से ही तीन और संवेग विकसित होते हैं। ये हैं– क्रोध , विरूचि तथा भय। 12 महीना की आयु होने पर हर्ष से ही दो और संवेग विकसित होते है उल्लास तथा अनुराग। 18 महीना की आयु होते–होते शिशुओं में ईर्ष्या तथा अन्य व्यक्तियों एवं बच्चों के प्रति अनुराग का भी विकास हो जाता है। इस तरह से जन्म से लेकर 24 महीना के भीतर तक शिशुओं में परिपक्वता बढने के साथ ही साथ करीब सभी प्रमुख संवेग का विकास हो जाता है।

संवेग के विकास में परिपक्वता के महत्व को दिखलाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने जन्म से बाहरे तथा अंधे शिशुओं के संवेग का अध्ययन किया है। गुडएनफ द्वारा इस सिलसिले में किया गया अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है। गुडएनफ का विचार था कि चूंकि ऐसे शिशु जन्म से ही अंधे तथा बहरे होते हैं, अतः उन्हें दूसरों में संवेग की अभिव्यक्ति न तो देखने को मिलता है और न दूसरों से इसके बारे में कुछ सुनने का ही मौका मिलता है। इसके बावजूद भी यदि इन शिशुओं द्वारा एक समान्य बच्चा के तरह संवेग की अभिव्यक्ति की जाती है तो हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि संवेग का विकास परिपक्वता पर आधारित है, सीखने पर नहीं। गुडएनफ ने अपने अध्ययन में एक 10 साल की लडकी जो जन्म से अंधी तथा बहरी थी, में संवेग का अध्ययन किया और पाया कि यह लडकी अपने आनन अभिव्यक्ति तथा हाव–भाव द्वारा क्रोध, डर तथा खुशी आदि संवेग को आसानी से दिखा सकने में सफल हुई।

ब्रिजेज तथा गुडएनफ के अध्ययनों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संवेग के विकास में परिपक्वता का विशेष ध्यान है। विटेकर के शब्दों में ''हमलोग इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि संवेग का खास–खास प्रकार और बहुत सा हाव–भाव जिसके द्वारा इन संवेगों को हम दिखलाते है, जीवन के प्रांरभिक समय से परिपक्वता द्वारा विकसित होते है।''

2. सीखना



शिशु जैसे–जैसे बड़ा होते जाता है, उसे भिन्न–भिन्न प्रकार के व्यवहारों को सीखने का अवसर मिलता है। फलतः वह नये–नये संवेगों की अभिव्यक्ति करना, उस पर पर्याप्त नियंत्रण करना तथा सही–सही अर्थ लगाना आदि भी सीख लेता है। मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोग के आधार पर यह दिखलाया है कि बड़ा होने पर व्यक्ति में जो संवेग का विकास होता है, उसमें सीखने का हाँथ अधिक तथा परिपक्वता का हाथ कम होता है। वाटसन तथा रेनोर ने एक बच्चा पर प्रयोग कर यह दिखलाया है कि किस तरह बच्चा में अनुबन्धन द्वारा भय के संवेग का विकास होता है। उनका एक प्रयोग अलबर्ट नाम के एक बच्चे पर किया गया था। प्रयोग के समय अलबर्ट की उम्र 11 महीना का था और वह जानवरों से विशेषकर उजला चूहा से डरता नहीं था। यहाँ तक कि वह घंटों उजला चूहा के साथ खेलता रहता था। प्रयोग में उजला चूहा को अलबर्ट के सामने उपस्थित किया जाता था और जैसे ही वह उसके साथ खेलने के लिए हाथ बढाता था, धमाके की आवाज कर दी जाती थीं इस प्रक्रिया को बार–बार दुहरायी गयी। एक सप्ताह के बाद उजाला चूहा से वह डरना सीख गया। जैसे ही चूहा उसके सामने लाया जाता था। बिना धमाके के आवाज के ही वह डर से रो उठता था। यहां तक कि बाद में उसकी मां उजला रोयेदार कोट पहनकर उसे गोद लेती थी, तो वह डर से रोने लगता था। इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि बडा बच्चा में संवेग का विकास सीखने की प्रक्रिया द्वारा भी होता है।

संवेग में सीखने की प्रक्रिया का महत्व भिन्न–भिन्न संस्कृति में किये गये अध्ययनों से भी पता चलता है। भिन्न–भिन्न संस्कृति व्यक्तियों को संवेग की अभिव्यक्ति भिन्न–भिन्न ढंग से करना सीखलाता है। उदाहरणस्वरूप,

हमलोग अपनी खुशी की अभिव्यक्ति तालियाँ बजाकर करते हैं। परन्तु चीनी लोग काफी चिन्तित व दुखी होने पर उसकी अभिव्यक्ति तालियाँ बजाकर करते हैं। संस्कृति हमें संवेग की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण करना भी सीखलाता है। जैसे, बच्चे प्रायः अपनी आक्रमणशीलता की अभिव्यक्ति खुलकर करते हैं। परन्तु हमलोगों की संस्कृति में एक वयस्क ऐसा नही करता है। क्यों? ऐसा इसलिए कि संस्कृति एक वयस्क को सीखला देती है कि आक्रमणशीलता की खुली अभिव्यक्ति को अच्छा नही समझा जाता है। अतः वह इस तरह के संवेग की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप से करें।

संवेग का वर्गीकरण

संवेग को मनोवैज्ञानिकों ने कई भागों में बांटा है। यदि उनके द्वारा किये गये सभी प्रकारों की व्याख्या हम अलग–अलग करे तो इससे मात्र संभ्रान्ति ही उत्पन्न होगा। अतः उन सभी प्रकारों का अलग–अलग वर्णन न करके नीचे सिर्फ उस वर्गीकरण का वर्णन किया जा रहा है। जिसे बहुत मनोवैज्ञानिकों ने काफी व्यापक माना है। इस तथ्य को देखते हुए लिण्डजे, हाल तथा थॅम्पसन ने संवेग को निम्नांकित प्रमुख भागों में बांटा है।

1. प्रेम

प्रेम एक धनात्मक संवेग है। जब व्यक्ति में किसी दूसरे व्यक्ति, पशु, स्थान के प्रति पसंदगी तथा आकर्षण विकसित हो जाता है तो इस संवेगात्मक स्थिति को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। इस संवेग में व्यक्ति दोस्ताना, सहानुभूति तथा मदद करने की प्रवृत्ति दिखलाता है। गैरिसन का कहना है कि प्रेम एक ऐसा संवेग है जिसकी शुरूआत बचपन में ही होता है तथा यह उन व्यक्तियों में अच्छा तरह से विकसित होता है जिन्हें अन्य व्यक्तियों से प्रेम मिला है तथा स्वयं दूसरों को देने का मौका मिला है। घर में बच्चे मां के प्रति पिता की अपेक्षा सामान्य तौर पर अधिक प्रेम दिखलाते है क्योंकि मां के साथ उनके अन्तः क्रिया की घनिष्ठता अधिक होती है। टुलकिन ने अपने प्रयोग के आधार पर यह दिखलाया है कि बच्चे वैसे भाई बहनों के प्रति भी अधिक प्यार दिखलाते है जो उनके आलोचना नहीं करते हैं या तंग नहीं करते हैं। एक वयस्क में भी इसी तरह की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। एक वयस्क उस व्यक्ति के प्रति अधिक प्यार दिखलाता है जो इसके प्रति अधिक हमदर्द होता है एक बच्चा का दूसरे बच्चे के प्रति प्रेम, बच्चे का माता पिता के प्रति प्रेम या माता–पिता का बच्चे के प्रति प्रेम आदि सभी अकामुक प्रेम के उदाहरण है। वयस्क व्यक्तियों में इसके अलावा कामुक प्रेम भी होता है। इस तरह का प्रेम व्यक्ति अपने विपरीत लिंग के व्यक्ति से करता है। पति–पत्नी तथा प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम कामुक प्रेम का उदाहरण है। इस तरह के प्रेम की अभिव्यक्ति में आलिंगन, चुम्बन तथा रतिक्रिया प्रधान होते है। इस तरह के प्रेम की एक विशेषता यह भी है कि इनमें दोनों पक्ष एक दूसरे के प्रति काफी

आकर्षण का अनुभव करते है। बच्चों का प्रेम तथा वयस्कों का प्रेम में प्रधान अन्तर यह है कि बच्चों का प्रेम हमेशा अकामुक होता है जबकि वयस्कों का प्रेम कामुक तथा अकामुक दोनों ही होता है।

2. आनन्द तथा उल्लास

आनन्द एक तरह का धनात्मक संवेग है। जब आनन्द की तीब्रता कम होती है तों इसे खुशी कहा जाता है परन्तु जब इसकी तीब्रता अधिक होती है तो इसे खुशी कहा जाता है परन्तु जब इसकी तीब्रता अधिक होती है तो इसे उल्लास कहा जाता है। जहाँ तक बच्चों में आनन्द संवेग का प्रश्न है, यह उम्र बढने के साथ–साथ पूर्वकथनीय होता है। छोटे–छोटे शिशुओं में आनन्द शरीरिक क्रियाओं जैसे खडा होना, धीरे–धीरे चलना, दौडना आदि से होता है। प्राक्स्कूली छात्रों में आनन्द मूलतः इन क्रियाओं से होता है जिसमें वे अपने सार्थियों को बुरी तरह फंसे हुए पाते हैं। जैसे, यदि कोई बच्चा कमीज पहनते समय अपना हाथ या पैर उसमें फंसा लेता है, तो इसे देखकर उसी उम्र के दूसरा बच्चा में आनन्द का संवेग होता है। प्राक्स्कूली बच्चे अचानक आवाज आदि से भी काफी आनन्दित होते हैं। बडे बच्चों में आनन्द का संवेग मूलतः उस समय होता है जब वे उस लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते है जिसका वे निर्धारण अपने लिये किये है। जैसे, एक 12 साल के बच्चे ने यदि सुबह से ही यह सोच रखा है कि उसे आज मैटिनी शो सिनेमा जाना है और सचमुच में वह इस शो को देखने में समर्थ हो जाता है, तो इससे उसे काफी आनन्द मिलता है।



जैसे--जैसे बच्चा वयस्कता की ओर बढ़ता है वे अपने आनन्द को सामाजिक रूप से व्यक्त करना सीख जाते हैं। वे अपने आनन्द की अभिव्यक्ति बच्चों जैसे जोर से हंसकर करना नहीं पंसद करते है। रॉथवार्ट के अध्ययन के अनुसार आनन्द संवेग की अभिव्यक्ति एक वयस्क मुस्कुराकर तथा कभी--कभी जोरों से हंसकर भी करता है। इस संवेग में पूरे शरीर में एक तरह की विश्रांति का भाव उत्पन्न होता पाया जाता है। सामान्य सामाजिक नियम एक वयस्क को आनन्द या हर्ष के संवेग को नियंत्रित कर व्यक्त करने के लिए बाध्य कर देता है ताकि उसे लोग उसके व्यवहार को बचकाना नहीं समझे।

3. उदासी तथा मंदन



उदासी एक एसी सांवेगिक प्रतिक्रिया है जो प्रिय वस्तु के खो जाने या प्रिय व्यक्ति के मर जाने से उत्पन्न होता है। अतः यह एक तरह का दुखद संवेग है। जब उदासी के संवेग की तीव्रता अधिक हो जाती है, तो इसे शोक या विषाद कहा जाता है। बच्चों में उदासी के संवेग का अभिव्यक्ति स्पष्ट तथा अस्पष्ट दोनों ढंग से होता है जब बच्चा उदासी की स्पष्ट अभिव्यक्ति करता है, तो वह रोना प्रारंभ कर देता है। जब वह इसका अस्पष्ट एवं परोक्ष रूप से अभिव्यक्ति करता है, तो उसमें भूख की कमी, नींद की कमी, खेलने की अनिच्छा व्यक्त करना, दूसरों से न बोलना आदि क्रियाएँ करता है। वयस्कों द्वारा उदासी संवेग की अभिव्यक्ति प्रायः परोक्ष रूप से ही होता है। लिण्डजे, हाल तथा थॉम्पसन के अनुसार जब एक वयस्क में उदासी का संवेग उत्पन्न होता है, तो उसमें किसी कार्य में अभिरूचि की कमी, भूख की कमी, रक्त चाप में कमी, सांस की गति धीमी, नाडी की गति में कमी, सामान्य वातावरण से अपने आप को अलग रखने की प्रवृत्ति आदि देखने को मिलता है। जब हानि (जिससे व्यक्ति में उदासी का संवेग उत्पन्न हुआ है) की मात्रा काफी अधिक होती है, तो उसमें सामान्य वातावरण से अपने आप को अलग रखने की प्रवृत्ति इतनी अधिक तीव्र

हो जाती है कि वह अपनी जिन्दगी की आवश्यक क्रियाओं को भी नहीं करना चाहता है और न तो अपने परिवार के सदस्यों से बातचीत ही करना है। धीरे–धीरे वह अपना ध्यान हुई हानि से हटाता है और पुनः एक सामान्य जिन्दगी की ओर लाने लगता है। फ्रायड ने इस अवधि को ' शोक अवधि' कहा है जो चाहे महीना का हो या कुछ दिनों का, सामान्य जीवन की शुरूआत करने के लिए निश्चित रूप से व्यक्ति को उसे समाप्त कर देना चाहिए।



जब उदासीन संवेग व्यक्ति में चिरकालिक हो जाता है तो व्यक्ति को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है और जिन्दगी में उसके लिए न तो कोई आशा और न ही कोई सांत्वना ही रह जाता है इस तरह की सांवेगिक स्थिति को मंदन की संज्ञा दी जाती है। अगर मंदन का कारण कोई अचानक सदमा होता है या जिन्दगी में होने वाले लगातार हतोत्साहित अनुभूतियां होती है तो इस तरह के मंदन को प्रतिघातक मंदन कहा जाता है। इस तरह के मंदन से व्यक्ति में गंभीर मानसिक बीमारी उत्पन्न होने का भय हो जाता है।

4. ऊब

जब व्यक्ति के सामने न तो कोई स्पष्ट लक्ष्य होता है और न तो उसे अपनी उपलब्धि से खुशी ही होती है और उसी तरह से जब व्यक्ति के सामने ऐसा कार्य होता है जिसमें न उसकी अभिरूचि होती है और न इच्छा ही, तो ऐसी परिस्थिति में उसमें एक विशेष संवेगात्मक स्थिति पायी जाती है जिसे ऊब कहा जाता है। ऊब का संवेग व्यक्ति को कुछ कार्य करने के प्रेरित करता है। जिसे ऊब कहा जाता है। ऊब का संवेग व्यक्ति को कुछ कार्य करने के प्रेरित

करता है। लेकिन वह यह नहीं समझ पाता है कि उसे क्या करना चाहिए। ऊब संवेग एक दुखद संवेग होता है। अतः व्यक्ति इस तरह की सांवेगिक स्थिति से जल्द से जल्द कुछ रचनात्मक कार्य करके छुटकारा पाना चाहता है।

व्यक्ति में ऊब संवेग सिर्फ अरूचिकर कार्यों से ही नहीं बल्कि आवृत्तीय कार्यों से भी होता है। जब व्यक्ति को एक ही तरह का कार्य बार–बार लगातार कई दिनों तक करना होता है, तो कुछ दिनों के बाद उसमें उस कार्य से ऊब का संवेग उत्पन्न हो जाता है। इस तरह के ऊब से व्यक्ति में ध्यान भंग होता है। फलस्वरूप, उसे काम करने में गलतियाँ काफी अधिक होती हैं। उद्योग में कर्मचारियों को अनेकों ऐसे काम करना होता है जिसका स्वरूप आवृत्तीय होता है। फलस्वरूप, उसमें उनमें ऊब का संवेग तेजी से उत्पन्न होता है। इससे उनका ध्यान भंग होता है तथा काम में गलतियाँ बढ़ने लगती है। अतः औद्योगिक मनोवैज्ञानिकों का प्रयास यही होता है कि वे ऊब के संवेग को व्यक्ति में उत्पन्न न होने दें।

5. डर एवं दुश्िंचंता

डर तथा दुश्चिंता दोनों एक–दूसरे से काफी सम्बन्धित संवेग है। डर एक ऐसी संवेगात्मक स्थिति है जिसमें किसी ऐसे खतरनाक वस्तु या घटना के प्रति व्यक्ति को प्रतिक्रिया करना होता है जिससे वह आसानी से छुटकारा नहीं पा सकता है। दुश्िंचता चिरकालिक डर का दूसरा नाम है। दुश्िंचता में मानसिक स्थिति अस्पष्ट होती है लेकिन यह संचयी होता है और प्रत्येक क्षण यह एक खास समय तक बढ़ते ही जाता है।



डर संवेग शैशवास्था से ही होता देखा गया है। प्रायः शिशु तीव्र आवाज, अंधेरे कमरा, जानवर, एकान्त परिस्थिति आदि से डर जाते हैं। बड़े बच्चों में डर इन उद्दीपकों के अलावा कुछ काल्पनिक बातों तथा कहानियों के काल्पनिक पात्रों से भी होता है। वाटसन के अनुसार भय संवेग के विकास में अनुबन्धन का विशेष हाथ होता है। अलबर्ट नामक एक बच्चा पर उनका इस सिलसिले में किया प्रयोग उल्लेखनीय है। बच्चे डर संवेग की अभिव्यक्ति अपने आप को फर्नीचर आदि के पीछे छिपाकर या फिर जोरों से चिल्लाकर करते हैं। परन्तु बड़ा हो जाने पर वे अपने डर संवेग की अभिव्यक्ति दूसरे ढंग से करते हैं। प्रायः एक विशेष आनन अभिव्यक्ति (facial expression) बनाकर वे डर के संवेग को व्यक्त करते हैं।

6. क्रोध

क्रोध एक ऐसा संवेग है जिसकी उत्पत्ति एक ऐसा अवरोध या अड़चन से होता है जिसे दूर किया जा सकता है। क्रोध जब अत्यधिक होता है तथा चिरकालिक होता है तो इसका प्रभाव विनाशक होता है। क्रोध भी एक ऐसा संवेग है जो शैशवावस्था से ही देखने को मिलता है। शैशवावस्था तथ बचपनावस्था में क्रोध की उत्पत्ति हल्के शारीरिक–असुविधा, स्नान कराने, कपड़ा पहनाने तथा उन्हें मनचाहा शारीरिक क्रियाएँ को न करने देने से उत्पन्न होता है। बड़े बच्चों में यानी 13–14 साल के बच्चों में क्रोध दूसरे कारणों से भी उत्पन्न होता है। जैसे– जब इनकी इच्छा संतुष्ट नहीं हो पाती है तो इनमें क्रोध उत्पन्न होता है। जब उन्हें कोई चिढ़ाता है तथा जब उनके माता–पिता प्रतिकूल तुलना दूसरे बच्चों या व्यक्तियों से करते हैं तो इससे भी उनमें क्रोध उत्पन्न होता है।

व्यक्ति क्रोध संवेग की अभिव्यक्ति दो ढंग से करता है– आवेगशील अनुक्रिया के रूप में तथा निरोधी अनुक्रिया के रूप में। जब क्रोध की अभिव्यक्ति आवेगशीलता अनुक्रिया के रूप में होती है तो इसे आक्रमणशीलता की संज्ञा दी जाती है। क्रोध संवेग की अभिव्यक्ति आवेगशील अनुक्रिया के रूप में अधिकतर बच्चों द्वारा किया जाता है। वे प्रायः अन्य बच्चों या व्यक्तियों के प्रति भिन्न–भिन्न प्रकार के आवेगशील अनुक्रिया जैसे– दाँत काटकर, सिर का बाल नोचकर, कपड़ा फाड़कर, दूसरे का किताब फाड़कर, गाली देकर आदि के रूप में करते हैं। अतः अधिकतर आवेगशील अनुक्रियाएँ बच्चे दूसरे बच्चों के प्रति ही करते हैं। इस तरह की अनुक्रियाओं को बाह्य दण्डात्मक अनुक्रिया कहा जाता है। कुछ आवेगशील अनुक्रियाएँ ऐसी भी होती है जिन्हें बच्चा स्वयं के प्रति करता है। जैसे, कभी–कभी देखा गया है कि बच्चा क्रोध में आकर अपना ही कमीज स्वयं फाड़ लेता है या अपने सिर का बाल स्वयं नोचने लगता है। इस तरह की अनुक्रिया को आत्मदण्डात्मक अनुक्रिया कहा जाता है।

क्रोध की अभिव्यक्ति कुछ निरोधी अनुक्रियाओं द्वारा भी होती है। निरोधी अनुक्रिया वैसी अनुक्रिया को कहा जाता है जिसमें क्रोध की अभिव्यक्ति नियंत्रित रूप से होती है। वयस्क अपने क्रोध की अभिव्यक्ति प्रायः निरोधी क्रियाओं द्वारा ही करते हैं। प्रायः देखा गया है कि एक वयस्क व्यक्ति जब किसी दूसरे व्यक्ति से क्रोधित हो जाता है, तो उससे मिलना–जुलना कम कर देता है। इतना ही नहीं, ऐसा व्यक्ति सामान्य वातावरण से भी अपने आप को खींच लेता है। इस तरह के विरोधी अनुक्रियाओं को अदण्डित व्यवहार कहा जाता है।

7. डाह या ईर्ष्या

डाह एक तरह का जटिल संवेग होता है और इसमें डर तथा क्रोध दोनों संवेग मिला होता है। जब व्यक्ति पहले से मिल रहे अनुराग में वास्तविक या काल्पनिक कमी महसूस करता है, तो इसमें उसमें डाह या ईर्ष्या का संवेग उत्पन्न होता है। जिस व्यक्ति में डाह का संवेग उत्पन्न होता है, वह अपने आप को हमेशा असुरक्षित महसूस करता है और हमेशा उसे इस बात का डर बना होता है कि उसका स्थान दूसरा व्यक्ति लेने वाला है। जिस परिस्थिति में डाह का संवेग उत्पन्न होता है, वह मूलतः सामाजिक होता है। कुछ प्रमुख सामाजिक परिस्थितियाँ जिसमें डाह का संवेग उत्पन्न होता है, निम्नलिखित हैं–

1. प्रायः देखा गया है कि माता–पिता अपने किसी बेटा या बेटी को अन्य बेटा–बेटियों की अपेक्षा अधिक दुलार–प्यार देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिक दुलार–प्यार पाने पर अपने भाई या बहन के प्रति छोटे या बड़े भाई बहनों में डाह का संवेग उत्पन्न होने लगता है। इन लोगों को ऐसा महसूस होने लगता है कि उन पर माता–पिता का ध्यान बिल्कुल ही नहीं है।

2. स्कूल में जब कोई छात्र यह देखता है कि शिक्षक द्वारा अन्य छात्रों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है उस पर नहीं, तो वैसी परिस्थिति में अन्य छात्रों के प्रति डाह का संवेग उत्पन्न हो जाता है तथा शिक्षक के प्रति उसमें क्रोध का संवेग उत्पन्न हो जाता है।

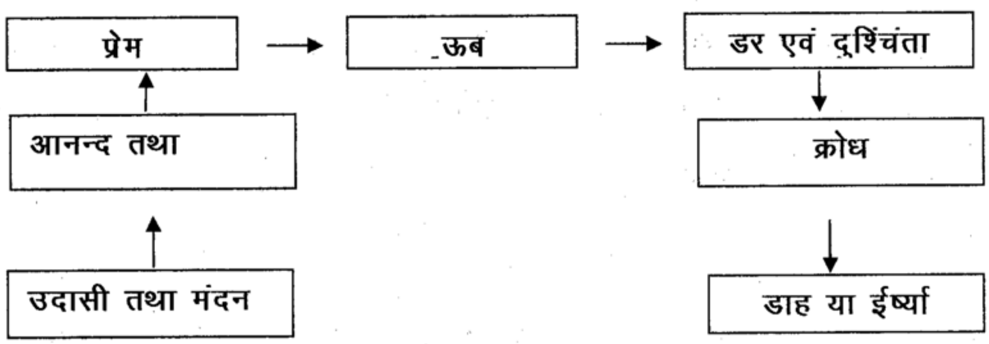
3. डाह संवेग की उत्पत्ति उस परिस्थिति में भी होता है जब कोई व्यक्ति यह देखता है कि जो वस्तु या सामान उसके पास होना चाहिए था, वह दूसरे व्यक्ति के पास है परन्तु उसके पास नहीं है। जैसे– मान लीजिए एक आफीसर का पड़ोसी उसी के दफ्तर का कर्मचारी है। ऑफिसर के पास रंगीन टेलिविजन नहीं है परन्तु कर्मचारी के पास है। ऐसी परिस्थिति में संभव है कि उस ऑफीसर में कर्मचारी के प्रति डाह का संवेग उत्पन्न हो जाय।

4. डाह संवेग की उत्पत्ति कामुक इच्छाओं के कारण भी होता है। उदाहरणस्वरूप मान लीजिए कि एक ही नवयुवक को दो नवयुवती प्यार करती हैं और अपनी कामुक इच्छाओं की संतुष्टि चाहती हैं। ऐसी परिस्थिति में नवयुवक यदि किसी एक युवती के साथ होता है तो दूसरी युवती के मन में डाह उत्पन्न होने लगता है।

डाह संवेग की अभिव्यक्ति दो प्रकार से करता है– सीधी तथा परोक्ष रूप से। बच्चे डाह संवेग की अभिव्यक्ति प्रायः सीधे करते हैं तब वे अपने प्रतिद्वन्दी की पीटते हैं, ढकेल देते हैं, दाँत काटते हैं या किसी प्रतिस्पर्द्धा में उसे हराने की कोशिश करते हैं। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं जैसे 13–14 वर्ष के हो जाते हैं, तो वे प्रायः डाह संवेग की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप से ही करते हैं। प्रायः ऐसे बच्चे प्रतिगामी व्यवहार जैसे अंगूठा चूसना तथा बिछावन पर पेशाब कर देना आदि व्यवहार करते हैं। ऐसे बच्चे तोड़–फोड़ भी करना प्रारंभ कर देते हैं। परोक्ष रूप से अपने प्रतिद्वन्द्वी पर व्यंग्य करना भी प्रारम्भ कर देते हैं। एक वयस्क व्यक्ति डाह संवेग की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप से या सीधे दोनों ढंग से करता है। यदि व्यक्ति आवेगशील है तो वैसी परिस्थिति में वह डाह की अभिव्यक्ति सीधे करेगा। परन्तु यदि व्यक्ति को अपने संवेग पर नियंत्रण करने का आदत है, तो वैसी परिस्थिति में वह डाह संवेग की अभिव्यक्ति प्रायः परोक्ष रूप से करता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि संवेग कई प्रकार के होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति के तरीकें भी भिन्न–भिन्न हैं। व्यक्ति किसी संवेग की अभिव्यक्ति किन–किन तरीकों से करेगा, यह बहुधा परिस्थिति तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है।

संवेग का वर्गीकरण



भीड़ (Crowd)

आज का जीवन 'भीड़' का जीवन बताया गया है और हमारा समाज विघटित घोषित कर दिया गया है। आज हम एक जत्थे (mass) में रहते हैं। भीड़ प्रकृति (crowed mentality) मानवीय मनुष्यों के ह्रास का मुख्य कारण माना जाता है।

भीड़ का अध्ययन समाज–शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने अलग–अलग अपने–अपने दृष्टिकोणों के आधार पर किया है।

समाजिक दृष्किोण से भीड़ समूह (group) का अंश माना जाता है। समूह का ही एक अंश भीड़ होता है और हम समूह में ही अपना जीवन आरम्भ करतें हैं। हमारी मनोवृत्ति, विचार, उद्वेग, व्यवहार, आचरण आदि का निर्माण तथा विकास समूह में ही होता है। हमारे व्यक्तित्व का विकास समूह में ही होता है। समूह के द्वारा निराशा और आशा दोनों ही प्रप्त होती हैं। भीड़ के द्वारा रोमांच (thrills) की स्थिति उत्पन्न होती हैं।



मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से केवल व्यक्तियों का जमाव ही भीड़ नहीं होती। एक भारी संख्या में जाती हुई जनता भीड़ कहीं जा सकती जब तक कि उनके लिये दिलचस्पी का सामूहिक विषय न हो और उसके प्रति उनमें प्रतिक्रिया न हो। भीड़ के पूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञान के लिय यह समझना आवश्यक है कि कौन सी स्थिति भीड़ की नहीं है।

एक परिवार के बैठे हुये सदस्य भीड़ नहीं बना सकते, एक कक्षा के विद्यार्थी भीड़ नहीं कहे जा सकते, सैनिक अपने अभ्यास के समय भीड़ बनाते हुये नहीं कहे जा सकते। इन इसभी उपर्युक्त परिस्थितियों में कुछ ही व्यक्ति

सम्मिलित होते हैं। उनका आचरण सांस्कृति तथा नैतिक आधार पर होता है तथा उनमें एकता की भावना होती है, एक उद्देश्य की प्रप्ति के लिये वे संलग्न होते हैं।

भीड़ की परिभाषा (Definition of Crowd) – भीड़ की अनेक परिभाषायें की गई हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं–

(1) **सिघले** (sighele) – "भीड़ एक प्राथमिक संघ (elementary organization) है। (2) " भीड़ व्यक्तियों का अचानक एकाएक इकट्ठा हो जाना जब कि उनमें उस समय के लिये ऐक्य मत पाया जाता है।"

किम्बल यंग (Kimball Young)– "भीड़ कुछ व्यक्तियों का जमाव है जो एक निश्चित निर्धारित स्थान पर किसी सामूहिक उद्देश्य के कारण होता है....यह अस्थायीी, क्षणिक, कम टिकाऊ तथा कुछ माने में असांस्कृतिक होता है।"

भीड़ की मुख्य विशेषतायें (Characteristics of Crowd)-

किम्बल यंग (Kimball Young) ने भीड़ की पाँच मुख्य वि ेशतायें बताई हैं–

(1) भीड़ अस्थायी (कम टिकाऊ) होती है। (2) भीड़ में ध्यान केन्द्रित करने का कोई विशय होता है। (3) भीड़ का ढ़ाचा (Structure) सुदृढ़ नहीं होता। (4) भीड़ एक स्थान पर होती है। (5) भीड़ एकाएक नेतृत्व का विकास होता है।

लेबन (Lebon) के मतानुसार भीड़ की मुख्य विशेषतायें निम्न रुप से हैं–

(1) भीड़ में उद्योगों की प्रधानता प्रधानता पाई जाती है। (2) भीड़ में अस्थायीपन पाया जाता हैं। (3) भीड़ में उचित न्याय करने की क्षमता नहीं होती। (4) भीड़ में भावना की बाहुल्यता होती हैं।

प्रोफेसर नेबर (Niebuhar) के अनुसार भीड़ की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है– (1) भीड़ में तर्क–द्वारा निर्णय नहीं लिया जाता। (2) भीड़ में दूसरो की अवश्यकताओं को समझने की कम भाक्ति होती है। (3) भीड़ में सत्य को समझने की क्षमता कम होती है।

भीड़ की प्रकृति (Nature of Crowd)– (1) भीड़ में सम्बन्ध कंधे से कंधा (Shoulder to Shoulder) का होता है जब कि अन्य प्राथमिक समूहों (primary groups) में सम्बन्ध आमने–सामने (face to face) का होता है (2) बहुधा केन्द्र के व्यक्ति अधिक क्रियाशील और सम्बन्धित होते हैं और भीड़ के किनारे (periphery) के व्यक्ति

कम; किनारे के व्यक्ति भीड़ के कार्यों का अवलोकन करते तथा तटस्थ (neutral) के रुप में होते हैं। (3) भीड़ बहुधा अचेतन उत्प्रेरकों से नियन्त्रित होती है। इसका सम्बन्ध अचेतन (unconscious) विचारों से अधिक होता है; इसका सम्बन्ध स्पाइनल कार्ड (spinal cord) से होता है, इस पर दिमाग (brain) का प्रभाव बहुत कम होता है। (4) भीड़ में उद्वेग (emotion), सुझाव (suggestion),अनुरण आमतौर पर पाये जाते हैं। (5) भीड़ में बुद्धिमता (intelligence) तथा बौद्धिक तत्वों का ह्रास हो जाता है। तर्क (reason) का स्थान उद्वेग तथा उन्माद ले लेते हैं। (6) भीड़ में एकता पाई जाती है जिसमें शक्ति का अंश होता है और उसका बहुधा हिंसक प्रयोग किया जाता है। (7) भीड़ में सोचने की क्रिया धीरे–धीरे होती है जब कि कार्य (action) की क्रिया अति तीव्र गति से होती रहती है। (8) भीड़ ऊँच--नीच, बुरा–भला, का विचार नहीं होता है। हिंसक तथा अपराधी कार्यो का इसमें कोई स्थान नहीं होता। भीड़ की इच्छा सर्वोपरि होती है । (9) भीड़ में सन्धि (compromise) करने की भावना नहीं होती। (10) भीड़ आमतौर पर नैतिक कार्यों का सम्पादन करती है। परन्तु सदैव ऐसी परिस्थिति नहीं पाई जाती। कभी–कभी भीड़ उचित कार्य के लिए भी दृढ़ संकल्प कर लेती है। युद्ध काल में भीड़ नैतिक तत्वों से भासित होती है। भीड़ में स्वार्थ (selfishness) तथा त्याग दोनों ही तत्व पाये जाते हैं। (11) भीड़ की प्रकृति परिस्थिति पर निर्भर करती है इसमें नैतिक तथा अनैतिक दोनों ही तत्वों का समावेश हो सकता है। (12) भीड़ में व्यक्ति अपना व्यक्तित्व तथा स्वरुप (identity) भूल जाता है और उसमें एकता पाई जाती है, व्यक्तिवादिता के स्थान पर सामूहिक एकता आ जाति है। (13) भीड़ में अनैतिक तथा हिंसक कार्य निम्न कारणों से होती हैं।–

(क) व्यक्तित्व तथा स्वरुप का ध्यान व्यक्ति को नहीं होता, नाम विहीनता (anonymity) पाई जाती है। (ख) सामाजिक नियंत्रण नहीं होता। (ग) सामाजिक अवरोध तथा विघ्न नहीं होते। (घ) व्यक्तियों में भय तथा लज्जा की भावना नहीं होती; कोई यह सोच नहीं पाता कि हमारे कार्य के सम्बन्ध में कोई क्या कहेगा और सोचेगा। (ङ) भीड़ स्वप्न के सदृश्य होती है। जिस प्रकार स्वप्न में अतृप्त भावनाओं और इच्छाओं के प्रदर्शन का मार्ग मिलता है उसी प्रकार भीड़ में भी विचारों तथा भावनाओं को प्रदर्शित करनें का अवसर मिलता हैं।

(14) भीड़ में व्यक्ति भावों (feelings) के द्वारा तथा स्वप्न में इच्छाओं के द्वारा भासित होता है। भीड़ में स्वप्न सदृश्य अपने भावों के प्रदर्शन करने में काई भय और संकोच नहीं पाया जाता। (15) भीड़ में ''भावों को छूत'' (contagious emotion) की प्रक्रिया पाई जाती है। यदि एक ने नारे लगाये तो सभी बिना सोचे विचारे नारा लगाना आरम्भ कर देते हैं । व्यक्ति सोचना बन्द कर देता है और भीड़ के साथ वह जाता है। (16) भीड़ में ''सामूहिक दिमाग'' (collective mind) बन जाता है। काई अपने अनुसार नहीं सोच पाता और न कुछ कर पाता है । अनुकरण, सुझाव तथा उद्वेगात्मक तत्वों का बाहुल्य होता है । भीड़ की सबसे बड़ी विशेषता एक ऐसे सामूहिक विषय का होना होता है

जो सभी का बराबर ध्यान आकर्षित करने में सफल हो सकें (17) भीड़ असंगठित होता है। परन्तु बहुत–से समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि भीड़ बहुत अंश तक संगठित होती है। (18) भीड़ में कार्य तथा पद (role and status) में कोई अन्तर नही निश्चित किया जा सकता और न किसी के लिये कोई कार्य तथा पद ही निश्चित किया जा सकता है। (19) भीड़ में कभी–कभी विभिन्न तत्वों का मिलाव बाहरी रुप से हो जाता है परन्तु उनमें सम्बन्ध पूर्ण रुप से नहीं होता तथा उनके भूल का अन्तर विद्यमान रहता है। (20) भीड़ द्वारा निर्णय किया नहीं जाता परन्तु उस पर निर्णय लाद दिया जाता है। ऐसा निर्णय शीघ्रता से हो जाता है जिसमें न तर्क का स्थान होता है और न नैतिकता का ध्यान होता है।

भीड़ का वर्गीकरण (Classification of Crowd)

भीड़ का वर्गीरण विचारकों ने निम्न प्रकार से किया है–

किम्बल यंग (Kimball Young)–(1) कियाशील भीड़ अथवा जत्था (mob) (2) दर्शक (audience)

आर0डब्ल्यू0 ब्राउन (Roger W. Brown)–(1) आकमणी (aggressive), (2) प्रदर्शनकारी (expressive),(3) भगदड़ बाजी (panic),(4) हड़पने तथा अपनानेवाली (acquisitive)।

(1) स्थिर भीड़ (stationary crowd)– वास्तव में इस प्रकार की भीड़ स्थिर नहीं होती। जब कोई ऐसा अवसर आता है कि जनता इकट्ठा होकर कुछ देखती है तो इस प्रकार की भीड़ बनती है। इसको दर्शक (audience) भी कह सकते हैं।

(2) Milling crowd – जब कोई ओजस्वी वक्तव्य होता है और भीड़ में उत्तेजना पैदा हो जाती है तो इस अवस्था को (milling crowd) कहते हैं।

(3) अस्थिर भीड़ (Moving Crowd)– जब भीड़ कार्य के लिए तैयार हो जाती है उस समय वह या तो कार्य करती है अथवा भाग खड़ी होती है इस प्रकार की भी भीड़ को अस्थिर (Moving) भीड़ कहते हैं।

(4) भावुक भीड़ (Emotional Crowd)– जब परस्पर विरोधी दलों का जमाव होता है उस समय इस प्रकार की भीड़ बन जाती है। इस प्रकार की भीड़ उस समय भी पाई जाती है जब धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक विषय पर उत्तेजना पैदा हो जाती है।

भीड़ बनने के कारण (Causes of Crowd)

(क) **भीड़ बनने की कुछ अवस्थायें** (Pre-condition)–1–भीड़ बनाने वाले व्यक्ति एक स्थान पर होना चाहिए। दूर--दूर विखरे हुए व्यक्ति एक भीड़ का निर्माण नहीं कर सकते। 2– भीड़ बनाने के लिए व्यक्तियों का एकाएक जमाव (Spontaneous collection of individuals) होना आव यक है । अगर व्यक्ति रह–रह कर आते रहें तो भीड़ निर्माण नहीं हो सकती । व्यक्तियों का एक साथ एक स्थान पर जमाव ही भीड़ बनने में सहायक हो सकता है। 3– व्यक्तियों का मनो–भौतिक (psycho-physical) स्तर कुछ मात्रा में एक होना चाहिए। यदि भीड़ के व्यक्तियों का मानसिक और भौतिक स्तर बहुत भिन्न रहा तो सम्भव है कि वे भीड़ निर्माण में सहयोग न दे सकें । 4– भीड़ बनाने के लिए एक सामूहिक विषय का होना आवश्यक है जो सभी का ध्यान आकर्षित कर सके। 5– भीड़ में उद्वेग, भावुकता, उन्माद आदि का किसी न किसी मात्रा में होना आवश्यक है।

(ख) **कारण** (Causes)– भीड़ में व्यक्ति उद्‌देश्य रहित होकर नहीं सम्मिलित होते परन्तु भीड़ निर्माण में व्यक्तियों की मनो--भौतिक (psycho-physical) आवश्यकता पूर्ण होती है। भीड़ निर्माण में मुख्य रुप से दो कारकों (factors) पर ध्यान देना संगत होगा– (1) **इच्छा**, जिसके कारण व्यक्ति इकट्‌ठा होते हैं, (2) **कारक,** जिनके कारण व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित होते हैं।

जब भूकम्प आता है तथा ज्वालामुखी का विस्फोट होता है तो उस समय व्यक्ति भीड़ बनाते तथा एक दूसरे का सहयोग प्राप्त करते है। इस प्रकार सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं से भी भीड़ का निर्माण होता है । जब कभी देश पर आक्रमण हो जाता है, कोई महान नेता मर जाता है, सरकार का पतन हो जाता है तथा कोई जोशीला वक्तव्य देता है तो देखा जाता है कि भीड़ बन जाती है। कभी–कभी देखा जाता है कि 'अवकाश' की घोषणा भी निर्माण मे सहायक

होती है। सभी लोग उत्साहपूर्ण व सभी कार्यो को छोड़कर एकत्रित हो जाते है। बड़े–बड़े मील–कारखानों स्कूलों और विश्वविद्यालयों में एक प्रकार का दृश्य देखने को मिलता है। कोई भी अवसर तथा परिस्थिति जो साधारण और नित्य–प्रति की दिनचर्या में परिवर्तन लाती है भीड़ बनाने में सहायक होती है। जब कोई सामाजिक, भौतिक तथा राजनैतिक घटनाएँ घटती हैं तो उससे लोगों की दिनचर्या में बाधा पड़ती है और उनको असुरक्षा की भावना व्यग्र करने लगती है। जब कभी भूकम्प, आन्दोलन, युद्ध अथवा किसी महान नेता की मृत्यु हो जाती है तो उस समय व्यक्तियों का मनो–सामाजिक (socio-psychic) अनुकूल हो जाता है और भीड़ का इस प्रकार निर्माण होता है।

इस प्रकार की तनाव पूर्ण स्थिति उस समय होती है जब व्यक्ति के अन्दर दो विचारों का संघर्ष होता है, दो विपरीत परिस्थितियों में परस्पर संघर्ष होता है । जब कभी अनैतिक दल सत्तारुढ़ हो जाता है, अथवा अनैतिक कार्य में कोई नेता पकड़ा जाता है तो इस प्रकार की दशा उत्पन्न होती है। गरीब सदैव इस स्थिति का शिकार रहता है और अधिकतर मिल मजदूर,गन्दी बस्तियों के रहनेवाले भीड़ निर्माणक होते हैं।

किम्बल यंग (K. Young) ने भीड़ के चार कारण बतायें गये हैं–

1–मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological factors), 2– सामाजिक कारक (social factors), 3– सुझाव और अनुकरण (suggestion and imitation), 4– नेतृत्व (leadership)

मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factor)

मनुष्य के सभी आचरण वर्तमान उत्प्रेरक (stimulation) और पूर्व विद्धमान मनोवृत्ति, आदत तथा मूल्यों (stimulation) का निष्कर्ष होता है और इन्हीं कारणों के कारण भीड़ भी बनती है। फ्रॉयड का कहना है कि भीड़ से इड (ID) का विकास होता है। मीड़ (mead) के अनुसार भीड़ में मैं (I) जो हम (Me) के द्वारा घर, खेल के मैदान तथा अन्य संगतों में दबा दी जाती है, का प्राकृतिक निकास तथा प्रदर्शन होता है। इस अवस्था में व्यक्त किये हुये विचार तथा भावनायें अनिश्चित तथा अस्थिर होती है जिसे स्टेकल (Stekel) ने पैरापेथी (Paraathy) कहा है। भीड़ वास्तविकता और काल्पनिक अवस्था की संघर्षपूर्ण स्थिति है।

सामाजिक कारण (Social Factor)

व्यक्ति की जिम्मेदारी किसी की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के कारण बढ़ जाती है। उस समय की भीड़ के कारणों का सूत्रपात होने लगता है। जब किसी की अधिक प्रशंसा अथवा उस पर दोषरोपण किया जाता है तो भी

भीड़–परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। सहयोग और प्रतिस्पर्द्धा के कारण भी समाज में एसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जो भीड़ का कारण हो जांय। भूकम्प में गिरे घरों से व्यक्तियों को निकालने के लिये सहयोग की अवश्यकता होती है और इस प्रकार भीड़ बन जाती है। दो दलों के बीच प्रतिस्पर्द्धा के कारण जब संघर्ष होता है तो भीड़ बन जाती है।

सुझाव और अनुकरण (Suggestion and Imitation)

अनुकरण और सुझाव भीड़-बनाने में बहुत सहायक होता है। अनुकरण व्यक्ति इसलिये करता है कि वह समाज, संस्किृति और स्थान का सदस्य होता है। यह स्वाभाविक होता है कि यदि कोई हंसता है तो दूसरा भी हंसता है। अनुकरण इसलिये होता है क्योंकि उत्प्रेरक सभी के लिये समान होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी समान होती है अनुकरण, अचेतन प्रक्रिया होती है। सुझाव की प्रक्रिया उस समय आरम्भ होती है जब भीड़ में कोई कुछ कहता है और किसी प्रकार का उत्प्रेरक रखता है। नेता कुछ कहता है तो उसे अन्य लोग बिना अधिक सोचे समझे मान लेते है । इस प्रकार अनुकरण और सुझाव भीड़ बनानें में अत्यधिक सहायता दे सकते है।

नेतृत्व (Leadership)

नेता का कार्य भीड़ बनाने में सर्वोपरि है। नेता मुख्यतः ऐसा सुझाव देता है जिसमें भीड़ के व्यक्तियों की मर्यादा (prestige suggestions) सम्मिलित होती है इस कारण भीड़ उससे अपने को मिलाती है उसमें अपना स्वरूप और आदर्श देखती है, उसकी वाणी में अपने हितों का गान सुनती है। नेता मुख्यतः निम्नलिखित रूप से भीड़ बनाने में सफल होता है–

(1) वह सभी का ध्यान एक बिन्दु पर केन्द्रित करता है। (2) लोगों के स्पष्ट विचारों तथा भावों को शब्दों में व्यक्त करता है। (3) वह अंधविश्वास, पुरातन व नूतन दृष्टान्त और ऐसे आदर्शो को रखता है जिससे लोगों के भावों में उत्तेजना आ जाती है। वह घृणा, प्रेम, उत्साह आदि को प्रोत्साहित करता है। (4) वह भीड़ के लिये एक निश्चित दशा तय करता है; वह मारने, जलाने अथवा भागने के लिये इशारा करता है। (5) वह कभी–कभी भीड़ का स्वयं नेतृत्व भी करता है।

आज का समाज, समाज नहीं भीड़ है– आज के समाज को भीड़ कहा जाता है; समाज का अर्थ होता है कि उसमें संगठन हो और आज के समाज से विघटन के तत्व अत्यधिक विद्यमान हैं **लेबान** (Labon) के अनुसार हम

भीड़ युग में रहते है। आज का सबसे बड़ा शक्तिशाली शासक भीड़ है। उसके द्वारा बहुत--सी सरकारें बनाई और हटायी जाती है। भीड़ की दैनिक शक्ति शासकों की दैनिक मान्यताओं की उपेक्षा करने में है।

भीड़–समाज (crowd society) जो आजकल की वर्तमान जीवनधारा है उसमें निम्न विशेषतायें पाई जाती है – (1) द्वितीय समूहों की अधिकता। (2) तर्क और विशेष कार्य क्षमता की मांग,आपस में सौहाद्र की कमी। (3) जनता में असुरक्षा, अकेलापन, अधूरापन आदि विचारों का पाया जाता है। (4) जनता द्वारा समता की माँग, सभी यह चाहते हैं कि उनकी आवश्यकतायें अन्य व्यक्तियों के समान पूर्ण की जांय। (5) श्रम विभाजन अत्यधिक पाया जाता है। (6) व्यक्तिवादी विचारों की प्रधानता।

उयर्युक्त कारणों को देखने के पश्चात् हमें पूर्णतया ज्ञात हो जाता है कि भीड़ निर्माण की वे तमाम विशेषताऐं हमारे सामाजिक दिन–प्रति–दिन के जीवन में प्राप्य है, इस प्रकार आज का समाज भीड़ का ही सुलझा हुआ रूप है, किन्तु हो सकता है कि यह शीघ्र ही पूर्णरूपेण भीड़ हो जाय।





हमने जाना

1. **काम--अंतर्नोद** (Sex-Drive) फ्रायड, शब्द Sex (काम) का प्रयोग उन संकीर्ण अर्थों में नहीं करते, जैसे कि हम सब दैनिक जीवन में करते हैं। यह एक ऐसी जीवन--प्रवृत्ति है जो व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों का, सामीप्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है, किन्तु इसका उद्‌देश्य कामुकता नहीं है ।

2. **भावाभिनिवेश प्रकिया** (Process of Cathexis) प्रत्येक व्यक्ति में मूलप्रवृत्तियों से सम्बन्धित मानसिक ऊर्जा की मात्रा निश्चित होती है, जो आवश्यकतानुसार लिबिडो और मार्टिडो का रुप धारण करती रहती है। जब लिबिडो की मात्रा बढ़ जाती है तो व्यक्ति में प्रेम का संवेग प्रबल हो उठता है और वह अपने शत्रुओं से भी प्रेम करने लगता है। जब मार्टिडो अधिक हो जाता है तो व्यक्ति में घृणा आदि संवेग तीव्र हो जाते हैं और व्यक्ति अपने मित्रों से भी प्रेम नहीं कर पाता।

3. **जन्मजात अभिप्रेरणाएँ**– इनके अन्तर्गत वे मूल प्रवृत्तियाँ आती हैं जो व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती है। भूख–प्यास, भय, काम तथा जीवन–रक्षा आदि इसी तरह के प्रेरक हैं।

4. **भीड़**– मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से केवल व्यक्तियों का जमाव ही भीड़ नहीं होती। एक भारी संख्या में जाती हुई जनता भीड़ कहीं जा सकती जब तक कि उनके लिये दिलचस्पी का सामूहिक विषय न हो और उसके प्रति उनमें प्रतिकिया न हो।

कठिन शब्दों के अर्थ

- **अभिप्रेरणा** :– व्यक्ति की क्रियाओं को संचालित, नियंत्रित और रूपान्तरित करती है तथा उसे व्यवहार की एक दिशा प्रदान करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक जगत में होने वाले सभी व्यवहारों तथा क्रियाएँ अभिप्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं।

- **अर्द्ध–चेतन मन** :– वह पक्ष है जिससे सम्बन्धित विचार और इच्छाएँ व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं लेकिन इसकी तात्कालिक जानकारी व्यक्ति को नहीं होती। इसके बाद भी कुछ प्रयास करने पर वह अर्द्ध–चेतन मन में स्थित विचारों और इच्छाओं को अपनी स्मृति में ला सकता है।

- **अचेतन मन** :– वह भाग है जिसमें अनेक ऐसे विचार और इच्छाएँ रहती है जिनका सामाजिक नियमों के कारण व्यक्ति दमन कर देता है। मस्तिष्क के इस भाग से सम्बन्धित इच्छाएँ भी व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं लेकिन न तो व्यक्ति को इनकी जानकारी होती है और न ही सामान्य प्रयास करने पर इनके प्रभाव को समझा जा सकता है। साधारणतया सम्मोहन जैसी मनोवैज्ञानिक प्रविधि के द्वारा ही इसकी कुछ जानकारी हो सकती है।

- **मनोवृत्तियाँ** :– किसी सामाजिक तथ्य अथवा व्यक्ति के प्रति हम जिन धारणाओं अथवा सुझावों को विकसित कर लेते हैं, वही हमारी मनोवृत्ति होती है। व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के आधार पर ही किसी व्यक्ति, परिस्थिति अथवा वस्तु के बारे में विचार करता है तथा उसका मूल्यांकन करता है।

अभ्यास के प्रश्न

- संवेग को परिभाषित करें।
- मूल प्रवृत्तियों को परिभाषित करें।
- संवेग को परिभाषित करें।
- सामाजीकरण को परिभाषित करें।

आओ करके देखें

1. समूह में मूलप्रवृत्तियों पर चर्चा करें।
2. समूह में संवेग पर चर्चा करें।
3. सामाजीकरण का रोल प्ले करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

1. समाज कार्य परिचय – प्रो0 राजाराम शास्त्री।
2. समाज कार्य का इतिहास एवं दर्शन – प्रो0 मिर्जा रफुद्दीन अहमद।
3. समाज कार्य – डॉ. जी. आर. मदन।
4. सामाजिक कार्य का परिचय – डॉ. धर्मपाल चौधरी।
5. प्रो. ए.एन. सिंह – सामुदायिक संगठन उ.प्र. हिन्दी ग्रंथ संस्थान लखनऊ।
6. फ्रेडलेंडर डब्ल्यू.ए. – समाज कल्याण परिचय, उ.प्र. हिन्दी ग्रंथ संस्थान लखनऊ।
7. रांस. एम. जी. – कम्युनिटी आर्गेनाईजेशन हेट एण्ड रा, न्यूर्याक।

■■■



मध्य प्रदेश-गान

सुख का दाता सब का साथी शुभ का यह संदेश है,
माँ की गोद, पिता का आश्रय मेरा मध्यप्रदेश है।

विंध्याचल सा भाल नर्मदा का जल जिसके पास है,
यहां ज्ञान विज्ञान कला का लिखा गया इतिहास है।
उर्वर भूमि, सघन वन, रत्न, सम्पदा जहां अशेष है,
स्वर-सौरभ-सुषमा से मंडित मेरा मध्यप्रदेश है।

चंबल की कल-कल से गुंजित कथा तान, बलिदान की,
खजुराहो में कथा कला की, चित्रकूट में राम की।
भीमबैठका आदिकला का पत्थर पर अभिषेक है,
अमृत कुंड अमरकंटक में, ऐसा मध्यप्रदेश है।

क्षिप्रा में अमृत घट छलका मिला कृष्ण को ज्ञान यहां,
महाकाल को तिलक लगाने मिला हमें वरदान यहां,
कविता, न्याय, वीरता, गायन, सब कुछ यहां विशेष है,
हृदय देश का है यह, मै इसका, मेरा मध्यप्रदेश है।

सुख का दाता सब का साथी शुभ का यह संदेश है,
माँ की गोद, पिता का आश्रय मेरा मध्यप्रदेश है।

वन्दे मातरम्

सुजलां, सुफलां, मलयज-शीतलाम्॥
शस्य-श्यामलां, मातरम्। वन्दे मातरम्॥

शुभ्र ज्योत्स्नां पुलकित-यामिनीम्,
फुल्लकुसुमित-द्रुमदल-शोभिनीम्,
सुहासिनीं, सुमधुरभाषिणीम्,
सुखदां, वरदां, मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

कोटि-कोटिकंठ कलकल निनाद कराले,
कोटि-कोटि भुजैर्धृतखरकरवाले।
अबला केनो मा एतो बले।
बहुबलधारिणीं, नमामि तारिणीम्
रिपुदलवारिणीं मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि तुमि मर्म
त्वं हि प्राणाः शरीरे।
बाहु ते तुमि मां शक्ति, हृदये तुमि मां भक्ति
तोमारई प्रतिमा गड़ि, मन्दिरे-मन्दिरे मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणीं
कमलां कमलदलविहारिणीं
वाणी विद्यादायिनीं, नमामि त्वां, नमामि कमलाम् अमलां अतुलाम्
सुजलां सुफलां मातरम् .... श्यामलां, सरसां, सुस्मितां, भूषिताम्
धरणीं भरणीं मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

Centre for Community Leadership Development Studies
MAHATMA GANDHI CHITRAKOOT GRAMODAYA VISHWAVIDYALAYA
Chitrakoot, Satna (M.P.) - 485 334
Phone : 07670 - 265622, E-mail : cmcldpcourse@gmail.com
www.cmcldp.org